
Registration No. V-36244/2008-09

ISSN :- 2395-0390

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48402 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 5.21

Varanasi Management Review

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor in Chief

Dr. Alok Kumar

Associate Professor & Dean (R&D)
School of Management Sciences
Varanasi

Volume - XI

No. - 3

(July – Sept.) 2025

(Part – III)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

*Varanasi Management Review - A Multidisciplinary Quarterly International
Refereed Research Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- vnsmgrev@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Varanasi Management Review" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2395-0390

Printed by

Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh**, School of Plant Sciences, Haramaya University, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar**, School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr. Saumya Singh**, Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Mrinalini Pandey**, Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Achche Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Aditya Kumar Gupta**, Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Abhishek Sharma**, Assistant Professor, Department of Hindi, Ravenshaw University, Cuttack
- **Dr. A. Shanker Prakash**, Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Anil Pratap Giri**, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh**, Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan**, Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Nagendra Kumar Singh**, Professor, Department of Journalism & Mass Communication, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Manish Arora**, Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya**, Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray**, Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi**, Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh**, Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Santosh Kumar Singh**, Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh**, Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari**, Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi

- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan**, Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey**, Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi



EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Varanasi Management Review**, a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor



CONTENTS

"Varanasi Management Review"

➤	संत रविदास की बेगमपुरा की अवधारणा डॉ. ज्योति गौतम	01-06
➤	अनुवादशिक्षणं महत्त्वपूर्णम् डॉ. योगेश्वर महान्त	07-13
➤	हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य डॉ. प्रगति सरोज	14-16
➤	कोरोना महामारी और सामाजिक संबंध- एक विश्लेषण मुकेश कुमार	17-21
➤	ब्लट्प 19 का प्राथमिक शिक्षा पर प्रभाव अंजली कुमारी	22-27
➤	भारत नेपाल संबंध का ऐतिहासिक परिपेक्ष्य का एक संक्षिप्त अध्ययन अजित सिंह	28-32
➤	वैश्वीकरण का प्रभाव और भ्रष्टाचार की समस्या : एक विश्लेषण दीपेश कुमार डॉ. (प्रो.) दिनेश प्रसाद सिन्हा	33-38
➤	सोनपुर मेला का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य : एक अध्ययन जूली कुमारी डॉ. शिखा सिन्हा	39-42
➤	वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली के निर्माण में हिन्दी की भूमिका : एक भाषावैज्ञानिक विश्लेषण अश्वनी कुमार मिश्र	43-49
➤	आधुनिक युग में संगीत : दशा तथा दिशाएं डॉ. रोली कनौजिया	50-54

संत रविदास की बेगमपुरा की अवधारणा

डॉ. ज्योति गौतम*

प्रस्तावना

भारतीय संत परंपरा के महान संत संत रविदास ने अपने पदों के माध्यम से एक ऐसे समाज की कल्पना प्रस्तुत की है जिसमें दुःख, अन्याय, भेदभाव और शोषण का स्थान न हो। इस आदर्श समाज को उन्होंने "बेगमपुरा" नाम दिया। 'बेगमपुरा' शब्द का शाब्दिक अर्थ है-ऐसा नगर जहाँ कोई 'ग़म' या दुःख न हो। यह पद संत रविदास की सामाजिक समानता और मानव-मुक्ति की विचारधारा को व्यक्त करता है।

संत रविदास का जीवन-परिचय

भारतीय भक्ति आंदोलन के प्रमुख संतों में संत रविदास का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने मध्यकालीन भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव, सामाजिक असमानता और धार्मिक आडंबरों के विरुद्ध आवाज उठाई तथा मानव समानता, प्रेम और भाईचारे पर आधारित समाज की स्थापना का संदेश दिया। संत रविदास की वाणी में मानवता, सामाजिक न्याय और आध्यात्मिक समता की स्पष्ट झलक मिलती है।

जन्म एवं प्रारंभिक जीवन

रविदास (रैदास) का जन्म काशी में माघ पूर्णिमा दिन रविवार को संवत् 1337 को हुआ था उनका एक दोहा प्रचलित है। "चौदह सौ तैंतीस कि माघ सुदी पन्द्रास। दुखियों के कल्याण हित प्रगटे श्री रविदास जी"। उनके पिता संतोख दास, माता का नाम कलसा देवी, उनकी पत्नी का नाम लोना देवी था। उनका परिवार पारंपरिक रूप से चर्मकार (चमड़े का कार्य करने वाला) समुदाय से संबंधित था, जिसे उस समय समाज में निम्न माना जाता था।

संत रविदास ने अपने जीवन के प्रारंभिक समय से ही सामाजिक भेदभाव और जातिगत असमानता का अनुभव किया। किंतु इन परिस्थितियों ने उन्हें निराश नहीं किया, बल्कि उन्होंने इन्हीं अनुभवों को अपनी आध्यात्मिक साधना और सामाजिक चिंतन का आधार बनाया।

शिक्षा एवं आध्यात्मिक दीक्षा

संत रविदास औपचारिक शिक्षा से अधिक आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव को महत्व देते थे। माना जाता है कि उन्हें महान संत रामानंद की शिष्य परंपरा से प्रेरणा प्राप्त हुई। रामानंद की शिक्षाओं में भक्ति, समता और ईश्वर के प्रति प्रेम का विशेष महत्व था, जिसका प्रभाव संत रविदास की वाणी में स्पष्ट दिखाई देता है।

संत रविदास का विश्वास था कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए किसी विशेष जाति, वर्ग या बाह्य आडंबर की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि सच्ची भक्ति, शुद्ध हृदय और मानव सेवा ही ईश्वर तक पहुँचने का सच्चा मार्ग है।

सामाजिक विचार और व्यक्तित्व

संत रविदास केवल एक भक्त कवि ही नहीं थे, बल्कि एक महान सामाजिक सुधारक भी थे। उन्होंने अपने पदों के माध्यम से समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, छुआछूत और धार्मिक पाखंड का विरोध किया। उनके विचारों में सामाजिक समानता और मानव गरिमा का स्पष्ट प्रतिपादन मिलता है।

उनकी प्रसिद्ध शिष्या मीराबाई मानी जाती हैं, जिन्होंने संत रविदास को अपना गुरु स्वीकार किया था। मीराबाई की भक्ति-भावना और आध्यात्मिक साधना में भी संत रविदास की शिक्षाओं का प्रभाव देखा जा सकता है।

साहित्यिक योगदान

संत रविदास की रचनाएँ मुख्यतः पद और साखियों के रूप में उपलब्ध हैं। उनकी वाणी सरल, सहज और लोकभाषा में लिखी गई है, जिससे सामान्य जन भी उनके विचारों को आसानी से समझ सकें। उनके अनेक पदों का संकलन गुरु ग्रंथ साहिब में भी मिलता है, जो उनके आध्यात्मिक महत्व को दर्शाता है।

उनकी वाणी का मुख्य उद्देश्य सामाजिक समता, प्रेम और ईश्वर भक्ति का संदेश देना था। उनके प्रसिद्ध पदों में "मन चंगा तो कठौती में गंगा" और "बेगमपुरा शहर को नाऊँ" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्र राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

संत रविदास की विचारधारा

संत रविदास की विचारधारा का मूल आधार मानव समानता और सामाजिक न्याय है। उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें न कोई जाति-भेद हो, न सामाजिक असमानता और न ही किसी प्रकार का शोषण। इसी विचार को उन्होंने 'बेगमपुरा' की अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया, जो एक ऐसे आदर्श समाज का प्रतीक है जहाँ सभी मनुष्य समान और स्वतंत्र हों।

इस प्रकार संत रविदास का जीवन केवल आध्यात्मिक साधना का ही नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन का भी प्रतीक है। उन्होंने अपने जीवन और वाणी के माध्यम से यह सिद्ध किया कि सच्ची भक्ति वही है जो मानवता, समानता और प्रेम का मार्ग दिखाए। उनकी शिक्षाएँ आज भी सामाजिक समरसता और मानवता के लिए प्रेरणास्रोत बनी हुई हैं।

बेगमपुरा पद का पाठ और व्याख्या

भारतीय संत परंपरा में संत रविदास द्वारा प्रतिपादित "बेगमपुरा" की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। यह केवल एक आध्यात्मिक या कल्पनात्मक नगर का चित्रण नहीं है, बल्कि सामाजिक समानता, न्याय और मानवीय गरिमा पर आधारित एक आदर्श समाज की परिकल्पना भी है। संत रविदास ने अपने प्रसिद्ध पद में इस आदर्श समाज का अत्यंत सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

(क) बेगमपुरा पद का पाठ

बेगमपुरा शहर को नाऊँ।
दुःख अंदोह नहीं तिहि ठाऊँ ॥
ना तसवीस खिराजु न माला।
खौफु न खता न तरसु ज्वाला ॥
अब मोहि खूब वतन गहि पाई।
ऊहां खैरि सदा मेरे भाई ॥
काइमु दाइमु सदा पातिसाही।
दोम न सेम एक सो आही ॥
आबादान सदा मशहूर।
ऊहां गनी बसहि ममूर ॥
तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै।
महरम महल न को अटकावै ॥
कहि रविदास खलास चमारा।
जो हम सहरी सो मीत हमारा ॥

यह पद संत रविदास की उस कल्पना को व्यक्त करता है जिसमें एक ऐसे नगर की परिकल्पना की गई है जहाँ सभी मनुष्य समान हैं और किसी प्रकार का सामाजिक या आर्थिक शोषण नहीं है।

(ख) पद की व्याख्या

"बेगमपुरा" शब्द दो भागों से मिलकर बना है—"बेगम" अर्थात् बिना गम या दुख के, और "पुरा" अर्थात् नगर। इस प्रकार "बेगमपुरा" का अर्थ हुआ ऐसा नगर जहाँ किसी प्रकार का दुःख, चिंता या पीड़ा न हो। संत रविदास इस पद में बताते हैं कि बेगमपुरा ऐसा स्थान है जहाँ किसी प्रकार का दुःख या चिंता नहीं है।

इस नगर में न तो किसी प्रकार का कर (टैक्स) लिया जाता है और न ही कोई दमन या अत्याचार है। यहाँ न किसी को भय है, न अपराध का डर और न ही सामाजिक उत्पीड़न। इसका अर्थ यह है कि संत रविदास एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जहाँ शासन व्यवस्था न्यायपूर्ण हो और किसी प्रकार का शोषण न हो।

इस पद में "दोम न सेम एक सो आही" का आशय यह है कि इस समाज में कोई ऊँच-नीच या जातिगत भेदभाव नहीं है। सभी मनुष्य समान हैं और सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं। संत रविदास स्वयं को "खलास चमारा" कहकर यह स्पष्ट करते हैं कि वे निम्न मानी जाने वाली जाति से होने के बावजूद ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जहाँ जातिगत भेदभाव का कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार यह पद सामाजिक समानता, स्वतंत्रता और न्याय की स्थापना का संदेश देता है।

बेगमपुरा की सामाजिक-राजनीतिक अवधारणा

"बेगमपुरा" की अवधारणा को केवल धार्मिक या आध्यात्मिक विचार के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि भी प्रस्तुत करती है।

(1) सामाजिक समानता का सिद्धांत

मध्यकालीन भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था अत्यंत कठोर थी। समाज में ऊँच-नीच का भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देता था। दलित और निम्न वर्गों को सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था।

संत रविदास ने इस व्यवस्था का विरोध करते हुए एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें सभी मनुष्य समान हों। “दोम न सेम एक सो आही” के माध्यम से उन्होंने यह स्पष्ट किया कि आदर्श समाज में जातिगत भेदभाव का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

(2) आर्थिक न्याय और शोषण से मुक्ति

बेगमपुरा में “ना तसवीस खिराजु न माला” का उल्लेख यह दर्शाता है कि वहाँ किसी प्रकार का कर या आर्थिक शोषण नहीं है। यह उस समय की सामंती व्यवस्था के विरोध का प्रतीक है, जिसमें किसानों और श्रमिकों पर अत्यधिक कर लगाए जाते थे।

संत रविदास की यह कल्पना एक ऐसे समाज की ओर संकेत करती है जहाँ आर्थिक संसाधनों का न्यायपूर्ण वितरण हो और किसी वर्ग का शोषण न हो।

(3) भय और दमन से मुक्त समाज

बेगमपुरा में “खौफु न खता न तरसु ज्वाला” का अर्थ है कि वहाँ न कोई भय है और न ही किसी प्रकार का दमन। यह एक ऐसे समाज की कल्पना है जहाँ शासन व्यवस्था न्यायपूर्ण और मानवीय हो। इस प्रकार बेगमपुरा की अवधारणा एक आदर्श लोकतांत्रिक समाज की ओर संकेत करती है।

(4) मानवीय गरिमा और स्वतंत्रता

संत रविदास के अनुसार आदर्श समाज वही है जहाँ मनुष्य को उसकी जाति या वर्ग के आधार पर नहीं बल्कि उसकी मानवता के आधार पर सम्मान मिले। बेगमपुरा में सभी व्यक्तियों को स्वतंत्रता प्राप्त है और वे बिना किसी बाधा के अपने जीवन का विकास कर सकते हैं।

संत रविदास की ‘बेगमपुरा’ की अवधारणा

भारतीय संत परंपरा मध्यकालीन भारतीय समाज में सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण आंदोलन रही है। इस परंपरा के संतों ने समाज में व्याप्त जाति-भेद, ऊँच-नीच, धार्मिक आडंबर और सामाजिक असमानताओं का विरोध करते हुए मानवता, समानता और प्रेम पर आधारित समाज की कल्पना प्रस्तुत की। इन्हीं संतों में संत रविदास का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने पदों और वाणी के माध्यम से एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना की जिसमें सभी मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त हों और किसी भी प्रकार का सामाजिक भेदभाव न हो। इस आदर्श समाज को उन्होंने “बेगमपुरा” के रूप में अभिव्यक्त किया।

‘बेगमपुरा’ शब्द का अर्थ है – ऐसा नगर या समाज जहाँ किसी प्रकार का ‘गम’ अर्थात् दुख, कष्ट या पीड़ा न हो। संत रविदास के अनुसार बेगमपुरा एक ऐसा आदर्श राज्य है जहाँ न कोई कर (टैक्स) है, न जातिगत भेदभाव, न सामाजिक अन्याय और न ही किसी प्रकार का भय या दमन। यह अवधारणा केवल आध्यात्मिक कल्पना नहीं है, बल्कि एक गहन सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि भी प्रस्तुत करती है, जिसमें समानता, स्वतंत्रता और न्याय पर आधारित समाज की स्थापना की परिकल्पना की गई है। संत रविदास का प्रसिद्ध पद “बेगमपुरा शहर को नाऊँ...” इस आदर्श समाज की स्पष्ट झलक प्रस्तुत करता है।

मध्यकालीन भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था अत्यंत कठोर थी और दलित एवं निम्न वर्गों को सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था। ऐसे समय में संत रविदास ने अपने अनुभवों और विचारों के आधार पर एक ऐसे समाज की कल्पना की जहाँ सभी मनुष्य समान हों और किसी भी प्रकार का सामाजिक भेदभाव न हो। इस प्रकार ‘बेगमपुरा’ की अवधारणा सामाजिक न्याय, समता और मानवीय गरिमा की स्थापना का एक क्रांतिकारी विचार बनकर सामने आती है।

संत रविदास की यह अवधारणा केवल धार्मिक या आध्यात्मिक विचार नहीं है, बल्कि इसमें सामाजिक परिवर्तन का स्पष्ट संदेश निहित है। इसमें एक ऐसे समाज की कल्पना की गई है जहाँ मनुष्य को उसकी जाति, वर्ग या धर्म के आधार पर नहीं बल्कि उसकी मानवता के आधार पर सम्मान प्राप्त हो। इस दृष्टि से ‘बेगमपुरा’ की संकल्पना आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों—जैसे समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व—के साथ भी सामंजस्य स्थापित करती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि संत रविदास की ‘बेगमपुरा’ की अवधारणा केवल एक आदर्श नगर की कल्पना नहीं है, बल्कि यह सामाजिक समानता, न्याय और मानवता पर आधारित समाज की स्थापना का एक महत्वपूर्ण वैचारिक

प्रतिपादन है। आज के समय में भी जब समाज में विभिन्न प्रकार की असमानताएँ और विभाजन मौजूद हैं, तब संत रविदास का 'बेगमपुरा' का विचार एक प्रेरणास्रोत के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है।

संत रविदास के साहित्य में "बेगमपुरा" की अवधारणा एक अत्यंत महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी विचार है। यह केवल एक काल्पनिक नगर नहीं, बल्कि एक आदर्श समाज और राज्य की परिकल्पना है, जिसमें समानता, स्वतंत्रता, न्याय और मानव गरिमा का पूर्ण सम्मान हो। "बेगमपुरा" शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—"बेगम" (अर्थात् दुःख या गम का अभाव) और "पुरा" (अर्थात् नगर)। इस प्रकार बेगमपुरा का अर्थ है "दुःख रहित नगर" या "ऐसा राज्य जहाँ कोई दुःख या पीड़ा नहीं हो" संत रविदास ने अपने प्रसिद्ध पद में बेगमपुरा का वर्णन करते हुए लिखा:

"बेगमपुरा शहर को नाऊँ, दुःख अन्दोह नहीं तिहि ठाउँ।

ना तसवीस खिराजु न मालु, खौफु न खता न तरसु जवालु॥"

इस पद में संत रविदास ने एक ऐसे राज्य की कल्पना की है जहाँ कोई कर नहीं, कोई भय नहीं, कोई सामाजिक भेदभाव नहीं और सभी लोग समान अधिकारों के साथ जीवन यापन करते हैं। यह अवधारणा आधुनिक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के समान है।

ओमवेदत (2008) के अनुसार बेगमपुरा एक ऐसे समाज का प्रतीक है जहाँ सामाजिक और आर्थिक समानता स्थापित होती है और किसी प्रकार का शोषण नहीं होता।

बेगमपुरा: एक आदर्श राज्य की अवधारणा

बेगमपुरा संत रविदास की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक दृष्टि का प्रतीक है। यह एक ऐसा आदर्श राज्य है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

(1) दुःख और पीड़ा का अभाव

बेगमपुरा में कोई दुःख या पीड़ा नहीं है। संत रविदास के अनुसार दुःख का मुख्य कारण सामाजिक असमानता, शोषण और अन्याय है। उन्होंने ऐसे राज्य की कल्पना की जहाँ इन सभी समस्याओं का समाधान हो। यह आधुनिक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषता है, जहाँ राज्य नागरिकों के कल्याण की जिम्मेदारी लेता है।

(2) कर और आर्थिक शोषण का अभाव

संत रविदास ने बेगमपुरा में कर और आर्थिक शोषण के अभाव का उल्लेख किया है:

"ना तसवीस खिराजु न मालु"

इसका अर्थ है कि वहाँ कोई कर नहीं है। मध्यकालीन भारत में निम्न वर्गों पर अत्यधिक कर लगाए जाते थे, जिससे उनका आर्थिक शोषण होता था। बेगमपुरा में आर्थिक समानता और न्याय की स्थापना की गई है। यह आधुनिक कल्याणकारी राज्य के आर्थिक न्याय के सिद्धांत के समान है। मिर्डल (1968) के अनुसार आर्थिक समानता सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है।

(3) सामाजिक समानता

बेगमपुरा में कोई जातिगत भेदभाव नहीं है। सभी लोग समान हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं। संत रविदास ने जाति-व्यवस्था का विरोध किया और मानव समानता पर बल दिया। उनके अनुसार सभी मनुष्य ईश्वर की संतान हैं और उनमें कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। ओमवेदत (2008) के अनुसार बेगमपुरा सामाजिक समानता का प्रतीक है।

(4) भय और असुरक्षा का अभाव

संत रविदास ने बेगमपुरा में भय और असुरक्षा के अभाव का उल्लेख किया है:

"खौफु न खता न तरसु जवालु"

इसका अर्थ है कि वहाँ कोई भय नहीं है। यह आधुनिक कल्याणकारी राज्य की सुरक्षा और न्याय प्रणाली के समान है।

(5) स्वतंत्रता और समान अधिकार

बेगमपुरा में सभी नागरिक स्वतंत्र हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं। संत रविदास के अनुसार स्वतंत्रता मानव जीवन का महत्वपूर्ण तत्व है। सेन (1999) के अनुसार स्वतंत्रता विकास का मुख्य आधार है।

बेगमपुरा और सामाजिक न्याय

बेगमपुरा की अवधारणा सामाजिक न्याय पर आधारित है। सामाजिक न्याय का अर्थ है कि सभी लोगों को समान अवसर और अधिकार प्राप्त हों। संत रविदास ने सामाजिक न्याय की स्थापना पर बल दिया और सामाजिक शोषण का विरोध किया। अबेडकर (1987) के अनुसार सामाजिक न्याय लोकतंत्र का मुख्य आधार है।

बेगमपुरा और आर्थिक न्याय

बेगमपुरा में आर्थिक न्याय की स्थापना की गई है। आर्थिक न्याय का अर्थ है: सभी लोगों को समान आर्थिक अवसर मिलना, आर्थिक शोषण का अभाव, संत रविदास ने आर्थिक समानता पर बल दिया। यह आधुनिक समाजवादी और कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के समान है।

बेगमपुरा और लोकतांत्रिक मूल्य

बेगमपुरा लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित है। लोकतंत्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं:

समानता

स्वतंत्रता

न्याय

संत रविदास के साहित्य में ये सभी तत्व मौजूद हैं।

बेगमपुरा और मानव अधिकार

बेगमपुरा मानव अधिकारों पर आधारित राज्य है। संत रविदास ने मानव अधिकारों पर बल दिया। मानव अधिकारों में शामिल हैं:

समानता का अधिकार

स्वतंत्रता का अधिकार

सम्मान का अधिकार

बेगमपुरा का समाजशास्त्रीय महत्व

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से बेगमपुरा सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक है। मैक्स वेबर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन समाज के विकास का महत्वपूर्ण तत्व है। बेगमपुरा सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

बेगमपुरा और आधुनिक कल्याणकारी राज्य

आधुनिक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं:

सामाजिक समानता

आर्थिक न्याय

सामाजिक सुरक्षा

मानव अधिकार

बेगमपुरा में ये सभी तत्व मौजूद हैं। इस प्रकार बेगमपुरा आधुनिक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के समान है।

आधुनिक संदर्भ में बेगमपुरा की प्रासंगिकता

आज के समय में भी संत रविदास की बेगमपुरा की अवधारणा अत्यंत प्रासंगिक है। आधुनिक समाज में विज्ञान और तकनीक के विकास के बावजूद सामाजिक असमानता, आर्थिक विषमता और जातिगत भेदभाव जैसी समस्याएँ अभी भी मौजूद हैं। ऐसे में बेगमपुरा की संकल्पना एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का मार्गदर्शन प्रदान करती है।

(1) सामाजिक समरसता की आवश्यकता

आज भी भारतीय समाज में जातिगत भेदभाव और सामाजिक विभाजन देखने को मिलता है। संत रविदास का संदेश सामाजिक समरसता और समानता की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण प्रेरणा प्रदान करता है।

उनकी विचारधारा यह सिखाती है कि समाज का वास्तविक विकास तभी संभव है जब सभी व्यक्तियों को समान अवसर और सम्मान प्राप्त हो।

(2) लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ सामंजस्य

बेगमपुरा की अवधारणा आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों—जैसे समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व—के साथ पूरी तरह मेल खाती है। भारतीय संविधान भी सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान करता है। इस दृष्टि से संत रविदास के विचार आधुनिक लोकतांत्रिक समाज के मूल सिद्धांतों के अनुरूप प्रतीत होते हैं।

(3) सामाजिक न्याय की स्थापना

आधुनिक समाज में सामाजिक न्याय की स्थापना एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है। दलितों, पिछड़े वर्गों और वंचित समुदायों के अधिकारों की रक्षा के लिए अनेक नीतियाँ और कार्यक्रम बनाए गए हैं। संत रविदास की बेगमपुरा की अवधारणा सामाजिक न्याय की इसी भावना को मजबूत करती है।

(4) वैश्विक परिप्रेक्ष्य में महत्व

आज पूरी दुनिया में मानवाधिकार, समानता और सामाजिक न्याय की चर्चा हो रही है। इस संदर्भ में संत रविदास की विचारधारा केवल भारतीय समाज के लिए ही नहीं बल्कि वैश्विक स्तर पर भी महत्वपूर्ण मानी जा सकती है। उनकी बेगमपुरा की कल्पना एक ऐसे विश्व की परिकल्पना प्रस्तुत करती है जहाँ सभी मनुष्य समान अधिकारों और अवसरों के साथ जीवन जी सकें।

आज भी बेगमपुरा की अवधारणा प्रासंगिक है। भारत में सामाजिक समानता और न्याय की स्थापना के लिए संत रविदास के विचार महत्वपूर्ण हैं।

बेगमपुरा: एक समाजवादी राज्य की अवधारणा

बेगमपुरा समाजवादी राज्य की अवधारणा के समान है।

समाजवादी राज्य में:

आर्थिक समानता होती है

सामाजिक न्याय होता है

बेगमपुरा में ये सभी तत्व मौजूद हैं।

बेगमपुरा और भारतीय संविधान

भारतीय संविधान में बेगमपुरा की अवधारणा की झलक दिखाई देती है।

संविधान में:

समानता का अधिकार

स्वतंत्रता का अधिकार

सामाजिक न्याय

ये सभी तत्व मौजूद हैं।

बेगमपुरा की सीमाएँ

बेगमपुरा एक आदर्श राज्य है, जिसे पूर्ण रूप से लागू करना कठिन है। फिर भी यह सामाजिक सुधार के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

निष्कर्ष

संत रविदास की “बेगमपुरा” की अवधारणा केवल एक आदर्श नगर की कल्पना नहीं है, बल्कि यह सामाजिक समानता, न्याय और मानवता पर आधारित समाज की स्थापना का एक महत्वपूर्ण वैचारिक प्रतिपादन है। इसमें जातिगत भेदभाव, आर्थिक शोषण और सामाजिक अन्याय से मुक्त समाज की कल्पना की गई है।

आज के समय में भी जब समाज विभिन्न प्रकार की असमानताओं और विभाजनों से जूझ रहा है, तब संत रविदास की बेगमपुरा की अवधारणा एक प्रेरणादायी आदर्श के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। यह हमें यह संदेश देती है कि एक न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवीय समाज की स्थापना संभव है, यदि हम समानता, प्रेम और भाईचारे के सिद्धांतों को अपने जीवन में अपनाएँ।

बेगमपुरा संत रविदास की एक आदर्श राज्य की अवधारणा है, जिसमें सामाजिक समानता, आर्थिक न्याय, स्वतंत्रता और मानव अधिकारों की स्थापना की गई है। यह आधुनिक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के समान है। संत रविदास का यह विचार सामाजिक परिवर्तन और मानव कल्याण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

संदर्भ-सूची

द्विवेदी, हजारी प्रसाद. कबीर. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 210-215.

सिंह, रामचंद्र. संत रविदास और उनका साहित्य. वाराणसी: चौखम्बा विद्या भवन, 2005, पृ. 95-110.

शर्मा, रामविलास. भारतीय संत परंपरा और समाज. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2010, पृ. 175-182.

सिंह, नामवर. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2012, पृ. 142-148.

मिश्र, विद्यानिवास. भक्ति आंदोलन और भारतीय समाज. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2008, पृ. 121-128.

वर्मा, रामकुमार. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2003, पृ. 156-160.

सिंह, धर्मवीर. संत रविदास का सामाजिक दर्शन. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2014, पृ. 88-102.

गुप्ता, गणपति चंद्र. हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2006, पृ. 130-135.

शर्मा, हरिश्चंद्र. संत साहित्य की सामाजिक प्रासंगिकता. जयपुर: पंचशील प्रकाशन, 2015, पृ. 67-74.

तिवारी, रामचंद्र. भक्ति कालीन संत काव्य. वाराणसी: चौखम्बा प्रकाशन, 2009, पृ. 112-118.

कुमार, ओमप्रकाश. संत रविदास: जीवन और दर्शन. दिल्ली: प्रभात प्रकाशन, 2016, पृ. 59-66.

अनुवादशिक्षणं महत्त्वपूर्णम्

डॉ. योगेश्वर महान्त*

पत्रसारांशः

कयापि भाषया कथितस्य वाक्यस्य अन्यभाषया कथनम् अनुवादः भवति। अनुवादेन जनाः भाषाम् अज्ञात्वापि तत्रोक्तं ज्ञानं झटिति प्राप्नुवन्ति । शुद्धानुवादाय प्रशिक्षणम् अभ्यासकार्यं च आवश्यकमस्ति । अनेके संस्कृतग्रन्थाः अनुवादमुखेन एव विश्वप्रसिद्धाः अभवन्। अन्यासां भाषाणामपि अनेके ग्रन्थाः संस्कृतभाषया अनूदिताः सन्ति। अन्यभाषाभिः सह संस्कृतस्य तुलनात्मकं ज्ञानं प्रदातुं शिक्षकस्य अनुवादकौशलम् आवश्यकम् अस्ति ।

उपक्रमः

अनु इति उपसर्गपूर्वकात् वद व्यक्तायां वाचि इति भ्वादिगणस्थात् धातोःघञ् प्रत्यये अनुवादशब्दः निष्पद्यते। ऋग्वेदे, अनुवादशब्दस्य 'पश्चात् कथनम्' इत्यर्थे 'अन्वेको वदति यद्ददाति तद्रूपामिनन्तदपा एक ईयते' इति मन्त्रे प्रयोगः अस्ति। अष्टाध्यायी इति ग्रन्थे महर्षिपाणिनिः 'अनुवादे चरणानाम् इति सूत्रं रचितवान् । एतस्य सूत्रस्य टीकायां कैयटः कथयति यत्- 'यदा प्रतिपत्ता प्रमाणान्तरावगतमप्यर्थं कार्यान्तरार्थं प्रयोक्ता प्रतिपादयते तदानुवादो भवति' इति । अर्थात् यदा वक्ता केनापि प्रमाणेन ज्ञातां वार्ताम् अवान्तरप्रयोजनेन कमपि अन्यं श्रोतारं वदति, तदा अनुवादः भवति। आचार्यः भर्तृहरिः अपि 'आवृत्तिरनुवादो वा इति उक्त्वा पश्चात्कथनार्थं एव अनुवादशब्दं प्रयुक्तवान् । किन्तु अनुवादशिक्षणे अनुवादशब्दस्य 'पश्चात् कथनम्' इत्यर्थः नास्ति । अत्र आङ्ग्लभाषायाः Translation (भाषान्तरम्) इति शब्दस्य अर्थे अनुवाद-शब्दः प्रयुज्यते । एषः शब्दः Trans (पारम्) lation (गमयनम्)।

भाषासन्दर्भे Translation शब्दः 'एकस्याः भाषायाः वाक्यार्थस्य अन्यभाषया कथनम्' इत्यर्थे प्रसिद्धः जातः । अनुवादे लिप्यन्तरणम् (Transcription) अपि भवति। उदाहरणार्थं तत् पुस्तकम् अस्ति इति वाक्यस्य भाषानुवादः - लिप्यन्तरणम्

लिप्यन्तरणे समस्याः तत्समाधानञ्च

That is a book. Tat pustakam asti.

अनुवादशिक्षणस्य उद्देश्यानि

संस्कृतसाहित्यस्य अर्थावगमने क्षेत्रभाषायाः सहयोगप्राप्तिः ।

संस्कृतस्य क्षेत्रभाषया अनुवादे कुशलतार्जनम् ।

क्षेत्रभाषायाः संस्कृतेन अनुवादे कुशलतार्जनम् ।

छात्राणां शब्दभाण्डारस्य वृद्धिसम्पादनम्।

अन्यभाषासाहित्यं संस्कृतेन अनूद्य संस्कृतसाहित्यस्य अभिवृद्धिसम्पादनम्।

संस्कृतसाहित्यम् अन्यभाषाभिः अनूद्य संस्कृतसाहित्यस्य प्रचारणम् ।

विविधसाहित्यानां भाषाशैलीनां च तुलनात्मकम् अध्ययनम्।

* Asst. Professor, Shri Jagannath Sanskrit University, Puri

संस्कृतभाषा अनुवादः च

संस्कृतग्रन्थानाम् अन्यभाषानुवादः - विश्वजनसमुदायः अनुवादमाध्यमेन एव संस्कृतेन सह परिचितः अस्ति। उदाहरणार्थं श्रीमद्भगवद्गीतायाः अनुवादः विश्वस्य ७५ भाषाभिः सञ्जातः। केवलम् आङ्ग्लभाषया एव बहुभिः अनुवाद-लेखकैः स्वमत्या गीतायाः ३०० अनुवादाः कृताः सन्ति। एवमेव ईशोपनिषदः

६४ भाषासु, पञ्चतन्त्रस्य ५० भाषासु रामायणस्य च २२ भाषासु अनुवादग्रन्थाः सन्ति। अद्यत्वे वेदाः, उपनिषदः, पुराणानि, महाभारतम्, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, कौटिल्यस्य अर्थशास्त्रम्, अभिज्ञानशाकुन्तलं मनुस्मृतिः चेत्यादयः अनेके संस्कृतग्रन्थाः विश्वभाषाभिः अनूदिताः सन्ति। अन्यभाषाग्रन्थानां संस्कृतानुवादः संस्कृतसाहित्यस्य अभिवृद्धिदृष्ट्या संस्कृतज्ञानां च सौविध्यदृष्ट्या आधुनिकभाषासु रचितसाहित्यस्य संस्कृतेन अनुवादः क्रियते। यथा भारतशासनस्य निर्देशे १९८५ तमे वर्षे तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री मङ्गलदेवशास्त्री इति एतौ महोदयौ भारतीय संविधानस्य संस्कृतेन अनुवादं कृतवन्तौ।

एवं हि अन्ये प्रसिद्धाः अनुवादग्रन्थाः सन्ति,

प्रौढसंस्कृतग्रन्थानां सरलसंस्कृतभाषया अनुवादः -

साम्प्रतं सर्वासु अपि भाषासु एतादृशम् अनुवादकार्यं बृहद्-स्तरे जायमानम् अस्ति। आङ्ग्ले तावत् एतस्य कृते Abridged (सारसंक्षेपः) इति शब्दः उपयुज्यते। एतादृशे अनुवादे प्राचीनग्रन्थानां या भाषा अस्ति, तया एव भाषया सारांशरूपेण पुनः लेखनं क्रियते। संस्कृतक्षेत्रे अपि प्राचीनग्रन्थानां सरलसंस्कृतभाषया पुनः लेखनस्य कार्यं क्रियमाणम् अस्ति। यथा अभिराजराजेन्द्रमिश्रमहोदयः पञ्चतन्त्रस्य पुनः अनुवादे अभिनवपञ्चतन्त्रं लिखितवान्। अस्मिन् ग्रन्थे प्राचीनपञ्चतन्त्रस्य मूलकथाम् आश्रित्य भारतस्य बालिदेशस्य च आधुनिकबालकथाभिः शिक्षा प्रदत्ता। एवमेव संस्कृतभारती इति प्रकाशनस्य सरलपञ्चतन्त्रम्, संक्षेपपञ्चतन्त्रम्, द्वात्रिंशत्-पुतलिकासिंहासनम्, वेतालपञ्चविंशतिकथाः चेत्यादीनि प्रकाशनानि अपि सारसंक्षिप्तस्य अनुवादस्य एव उदाहरणानि सन्ति। संस्कृतदीक्षापुस्तकेषु तृतीयदीक्षायां संक्षेपरामायणम् अपि अस्य एव उदाहरणम् अस्ति। प्रौढस्तरे अभिराजराजेन्द्रमिश्रमहोदयस्य अभिनव-शिवताण्डवस्तोत्रम् (रावणकृत-शिवताण्डवस्तोत्रस्य शैलीम् आश्रित्य रचितम्) पुष्पादीक्षितमहोदयायाः नव्यसिद्धान्तकौमुदी चेत्यादयः अनेके ग्रन्थाः एतादृशम् अनुवादकार्यं संस्कृतक्षेत्रे परिचाययन्ति।

अनुवादस्य प्रकाराः

स्वरूपस्य आधारे अनुवादस्य प्रकाराः अधोलिखिताः सन्ति, तद्यथा-

शब्दानुवादः

शब्दानुवादे शाब्दिकः अनुवादः भवति। एषः अनुवादः 'मक्षिकास्थाने मक्षिका सदृशः भवति। अर्थात् प्रथमभाषायाः शब्दस्य स्थाने द्वितीयभाषायाः शब्दः स्थाप्यते इति। यन्त्रानुवादः (यथा Google Translation) अपि शब्दानुवादः एव भवति। ११ मई २०२२ तः अष्टमभारतीयभाषारूपेण संस्कृतभाषा अपि Google Translation इति यान्त्रिकानुवादपटले अनुवादार्थं समुपलब्धास्ति। अस्मिन् अनुवादे शब्दकोशस्य महत्त्वम् अत्यधिकं भवति। अत्र सन्दर्भस्य, भावस्य लाक्षणिकार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च विषये अवधानं न भवति इत्यतः अस्मिन् प्रायशः मूलवाक्यस्य सर्वथा भिन्नः एव आशयः सञ्जायते। उदाहरणार्थं सूर्यप्रकाशः गच्छति इत्यस्य आङ्ग्लानुवादे 'Sunlight is going' इति अनिष्टः अनुवादः अपि भवितुम् अर्हति। एवमेव 'A poet of first water' (अर्थात् उत्कृष्टकविः) इत्यस्य 'प्रथमजलस्य कविः' इति हास्यास्पदम् अनुवादकार्यं भवेत्। एतादृशेन अनुवादेन प्रयोजनं नास्ति। कस्याम् अपि भाषायां शब्दानां चयनं सन्दर्भानुगुणं क्रियते। किन्तु, सन्दर्भविषये एव अत्र अवधानं न भवति। अतः अर्थनिष्पादनदृष्ट्या शब्दानुवादः पूर्णरूपेण विश्वसनीयः न भवति।

भावानुवादः

अस्मिन् अनुवादे अनुवादकर्ता मूलभाषायाः शब्दावलीम्, पदक्रमं वाक्यविन्यासं च परित्यज्य केवलं तस्य भावं गृह्णाति । तस्य लक्ष्यं केवलं मूलभाषायाः भावस्य प्रकटनं भवति। अस्मिन् भावप्रकटने सम्प्रेषणीयतायाः महत्त्वं सर्वाधिकं भवति । अतः एषः अनुवादः भावसादृश्ये केन्द्रितः भवति। येन अर्थस्य अवगमनं सारल्येन भवेत् । एतादृशेन अनुवादेन मूलरचनायाः भावस्य तु रक्षा भवति, किन्तु तस्याः शैल्याः रक्षणं न भवति। बहुधा भावप्रकटने अनुवादकर्ता मूलरचनाकारस्य अभिव्यक्तिकौशलस्य उपेक्षां कृत्वा आत्मभावेषु एव मुग्धः जायते। यथा राजा रामः, राज्ञी सीता इति शब्दद्वयस्य उर्दूभाषया भावानुवादे राजा-राज्ञी इति शब्दद्वयस्य भावार्थः बादशाह बेगम इत्येव भवति । एतादृशेन भावेन बादशाह राम, बेगम सीता इति कथनं कथमपि न शोभते। अतः एषः अनुवादः अपि आदर्शः नास्ति ।

छायानुवादः

केचन विद्वांसः भावानुवादमेव छायानुवादारूपेण स्वीकुर्वन्ति । यती हि तेषां मते शब्दस्य छाया एव तस्य भावः भवति। तेषां मतस्य अभिप्रायः मूलार्थस्थ प्रकटनेन एव अस्ति इत्यतः उभयोः अनुवादयोः महान् विरोधः नारित । छायानुवादे तावत् मूलभाषायाः शब्दानां, भावनां सङ्कल्पनानां च सङ्कलितः प्रभावः लक्ष्यभाषायां रूपान्तरितः भवति। अस्मिन् अनुवादकः मूलभाषया बद्धः भूत्वा तस्याः छायायां लक्ष्यभाषया विषयं वर्णयति । संस्कृतनाटकेषु छायानुवादस्य बहुनि उदाहरणानि प्राप्यन्ते। उदाहरणार्थम् अभिज्ञानशाकुन्तलम् इत्यादिनाटकेषु स्त्रीपात्राणि प्राकृतभाषां वदन्ति । सा प्राकृतभाषा संस्कृतवाक्यस्य छायानुवादारूपेण एव भवति। अत्र उदाहरणार्थं जगद्गुरुशङ्कराचार्यस्य चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रस्य एकस्य पद्यस्य छायानुवादः प्रस्तूयते -

भगवद्गीता किञ्चिदधीता, गङ्गाजललवकणिका पीता।

सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा, तस्य यमः किं कुरुते चर्चा ॥

पद्मि तनिक जो भगवत् गीता, गंगा जल की बूंद भी पीता। प्रेम सहित हरि भजन जो करता, यम उसकी चर्चा से डरता ॥

व्याख्यानानुवादः

एषः अनुवादः भाष्यानुवादः, टीकानुवादः इत्यादिशब्दैः अपि जायते । अस्मिन् अनुवादकः मूलभाषायाः विचाराणां, भावानां सङ्कल्पनानां च निजलेखनशैलीम् उपयुज्य लक्ष्यभाषया सविस्तरं रूपान्तरणं करोति। अस्मिन् विषयं स्पष्टीकर्तुम् अतिरिक्तानि उदाहरणानि अपि दातुं शक्यन्ते। यथा लोकमान्य-तिलकस्य गीतारहस्यम् इति ग्रन्थः गीतायाः व्याख्यानानुवादः एव मन्तव्यः।

सारानुवादः

बृहद्-रचनानां गद्ये पद्ये वा संक्षिप्तानुवादः सारानुवादः भवति। सुदीर्घभाषणानाम् अनुवादे सारानुवादः उपयुज्यते। एतादृशे अनुवादे घटे समुद्रवत् विवरणं दातुं प्रयासः क्रियते। अतः एतत् कार्यम् अतीव परिश्रमसाध्यम् अस्ति। अस्मिन् अनुवादकः संक्षिप्तता, सरलता स्पष्टता चेत्यादिगुणैः सह भाषायाः स्वाभाविकप्रवाहस्य अपि परिपालनं करोति । सप्तश्लोकगीता, सप्तश्लोकी दुर्गापाठः, चतुश्लोकभागवतम् इत्यादीनि अस्य उदाहरणानि सन्ति ।

आशुः अनुवादः

सभासु द्विभाषाभाषी जनः आशुरूपेण अनुवादं करोति । एषः अनुवादः त्वरितरूपेण भवति, अतः अस्मिन् आशयस्य प्राधान्यं भवति । अत्र प्रायशः मूलभाषायाः लक्ष्यभाषायाः च वाक्यानि समानानि न भवन्ति । यथा वैदेशिक-राष्ट्राध्यक्षैः सह सम्भाषणे आशुः अनुवादः एव क्रियते । एतदर्थम् अनुवादकस्य भाषाद्वयेऽपि पूर्णाधिकारः आवश्यकः अस्ति । अनुवादस्य विश्वसनीयतायै अनुवादकस्य मुखमुद्रायाः शारीरिकभाषायाः चापि अतीव महत्त्वं भवति ।

रूपान्तरणानुवादः

अस्मिन् अनुवादे साहित्यस्य एकस्याः विधायाः रचनायाः रूपान्तरणम् अन्यस्यां विधायां क्रियते । रूपान्तरणानुवादं कर्तुं भाषाधिकारेण सह साहित्यिक-कुशलतायाः अपि आवश्यकता भवति। कथायाः नाटके, नाटकस्य कथायां वा रूपान्तरणं सारल्येन भवितुम् अर्हति। अनेके कवयः गद्यरचनायाः पद्यानुवादे कुशलाः भवन्ति । एवमेव नाटकानां रेडियोनाटकरूपेण परिवर्तनम्, कथायाः कवितारूपेण, गद्यस्य पद्यरूपेण परिवर्तनं च रूपान्तरणानुवादस्य एव उदाहरणानि सन्ति। यथा प्रेमनारायणद्विवेदी महोदयः कादम्बरी (गद्यम्) रामचरितमानसम् (अवधिभाषा) इत्यनयोः ग्रन्थयोः संस्कृतभाषया पद्यानुवादं कृतवान् ।

आदर्शानुवादः

आदर्शानुवादस्य तथ्यानुवादः, स्वाभाविकानुवादः, सटीकानुवादः इत्यादीनि नामान्तराणि अपि सन्ति। अत्र मूलभाषायाः (Source Language) लक्ष्यभाषायाः (Target Language) च आत्मनोः एकीभावः जायते। आदर्शानुवादे एवं प्रतीयते यत् मूलभाषायाः लेखकः एव कदाचित् लक्ष्यभाषायामपि समानाधिकारेण विषयम् उपस्थापयन् अस्ति इति। अस्मिन् अनुवादकः मूलभाषाशैलीं समाश्रित्य शब्दार्थयोः औचित्यपूर्णप्रयोगं कुर्वन् तथ्यानां यथावत् प्रस्तुतिं करोति। अनुवादकस्य कौशलस्य प्रतिभायाश्च अत्र पूर्णरूपेण समुपयोगः भवति । यथा भक्तिवेदान्तस्वामि-प्रभुपादस्य 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' इति ग्रन्थे गीताश्लोकानाम् आदर्शानुवादः कृतः अस्ति। एवमेव होसकरे नागप्पशास्त्री महोदयः महात्मगांधीमहोदयस्य The Story of My Experiments with Truth इत्यस्याः आत्मकथायाः सत्यशोधनम् इति शीर्षकेण आदर्शानुवादं कृतवान्।

अनुवादे समस्याः

सामान्यतः द्वितीयभाषायां जनानां मातृभाषावत् अधिकारः न भवति । यतो हि विश्वभाषास प्रत्येकं भाषायाः पृष्ठभूमिः भिन्ना भवति । प्रत्येक भाषायाः मौलिकविशेषताः अपि भिन्नाः भवन्ति । अतः कयोः अपि द्वयोः भाषयोः सटीकः अनुवादः (Exact Translation) अतीव दष्करकार्यम् अस्ति। उत्तमम् अनुवादं कर्तुम् अनुवादकस्य कृते द्वयोः भाषयोः अधिकारेण सह अनुवादगतसमस्यानां परिज्ञानम् अपि आवश्यकम् अस्ति। अनुवादसमस्याः ज्ञात्वा एवं अनुवादकर्ता अनुवादसमये तासां समस्यानां परिहारं कृत्वा उत्तमम् अनुवादं सम्पादयितुं शक्नोति । प्रमुखाः अनुवादे समस्याः सन्ति, यथा-

सामाजिक-सांस्कृतिकभेदस्य समस्या

प्रत्येकं भाषायाः परम्पराः, संस्कृतिः, समाजः, साहित्यम्, मान्यताः इतिहासः चेत्येतत् सर्वम् अपि विशिष्टं भवति। कयोः अपि द्वयोः भाषयोः सामाजिकः सांस्कृतिकः च इतिहासः समानः भवितुं न अर्हति। उदाहरणार्थं जन्मान्तरसम्बन्धः, पुण्यम्, पापम् अन्त्येष्टिः चेत्यादीनां शब्दानाम् आङ्ग्लभाषया अर्थज्ञापनं कठिनम् अस्ति। अन्यदपि आङ्ग्लभाषायाः Good Morning, Good Night, Good Afternoon इत्येतादृशानां शब्दानां सुप्रभातम्, शुभरात्रिः, सुमध्याह्नम् इति शब्दाः मूलतः भारतीयसंस्कृतौ व्यवहारे न आसन्, किन्तु लोकव्यवहारदृष्ट्या कालान्तरे रचिताः। भारतीयसंस्कृतौ तु नमस्कारः, प्रणाम इत्येतादृशाः शब्दाः एव अभिवादानाय परम्परया प्रयुज्यन्ते स्म। मङ्गलसूत्रम्, चूडामणिः नूपुरे चेत्यादीनि आभूषणानि भारतीयसंस्कृतौ एव सन्ति इत्यतः एतेषां पदानाम् आङ्ग्लानुवादः यथार्थतः भवितुमेव न अर्हति।

सामाजिक-सांस्कृतिकभेदस्य अन्यानि अपि उदाहरणानि भवितुम् अर्हन्ति । यथा आङ्ग्लभाषायाः Great इत्यस्य शब्दस्य संस्कृते तावत् 'महान्' इति अनुवादः चिन्त्यते। किन्तु एषः अनुवादः सार्वत्रिकः नास्ति । सांस्कृतिकभेदवशात् सर्वत्र Great इत्यस्य 'महान्' इति अनुवादः अनर्थाय भवेत्। यदि कश्चित् जनः उत्तमनिद्रायाः अर्थं Great Sleep इत्यस्य 'महा-निद्रा' इति अनुवादं करोति, तर्हि सा निद्रा मरणसूचनायै भविष्यति। यतो हि संस्कृते शङ्खः, तैलम्, मांसम्, वैद्यः, ज्योतिषी, ब्राह्मणः, यात्रा, पन्था, निद्रा चेत्येतेषां शब्दानाम् अग्रे महत् इत्यस्य शब्दस्य प्रयोगे अर्थः नकारात्मकरूपेण परिवर्तते । यथोक्तम् -

शङ्खे तैले तथा मांसे, वैद्ये ज्योतिषिके द्विजे ।

यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते ॥

एवमेव त्वम्, भवान्, भवती इति एतेषां त्रयाणाम् अपि शब्दानां कृते लिङ्गबोधनार्थम् अन्यः उपायः नास्ति । संस्कृते क्वचित् आदरार्थक बहुवचनस्य आङ्ग्ले तावत् You इति एकेन एव पदेन अनुवादः करणीयः । आदरसूचनार्थं प्रयोगः अस्ति, चेदपि आङ्ग्ले तु एकवचनप्रयोगः करणीयः ।

एतादृशमेव एकम् उदाहरणम् इतोऽपि अवलोकनीयम्। उर्दू भाषायां तावत् जुमा (Friday) इति शब्दः शुक्रवासरस्य कृते उपयुज्यते इति ज्ञात्वा कश्चन उर्दूभाषां यवनसंस्कृतिं च अजानन् जुमेरात इति शब्दस्य अर्थं शुक्रवासरस्य रात्रिः (Friday Night) इत्येव करिष्यति । किन्तु यवनसंस्कृतौ जुमेरात इत्यस्य अर्थः गुरुवासरस्य रात्रिः (Thursday Night) भवति । यतो हि तत्र दिनस्य आरम्भः रात्रिकालात् स्वीक्रियते । अतः वासरस्य रात्रिः प्रथमतः समाप्ता भवति, ततः दिनम् उदेति। सामान्यतया हिन्दीभाषी जनः अहोरात्रे प्रथमतः सूर्योदयात् दिनारम्भं मत्वा ततः परमेव तस्य दिनस्य रात्रिः भवति इति व्यवहरति। अतः अनुवादे सामाजिक-सांस्कृतिकपृष्ठभूमिः विषये विशेषतया ध्यानं देयम् ।

लोकोक्तीनाम् अनुवादसमस्या

लोकोक्तीनाम् अनुवादे अपि महती समस्या भवति। अतः उत्तमः अनुवादकर्ता भाषान्तरे याः लोकोक्तयः सन्ति, तासामेव समुपयोगं करोति। अन्यथा अर्थस्य अनर्थः भवेत्। यदि समानार्थं लोकोक्तिः भाषान्तरे प्राप्यते, तर्हि तस्याः एव प्रयोगः शोभते। यथा उदाहरणद्वयम् अवलोकनीयम् -

संस्कृतलोकोक्तिः -जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।

हिन्दीलोकोक्तिः- बूँद बूँद से घड़ा भरता है। कदाचित् समानार्थं भाषान्तरे लोकोक्तिः न प्राप्यते। तदानीं सामान्य-शब्दैः अर्थजापनमेव वरम् ।

अनुवादशिक्षणविधयः

संस्कृतेन अनुवादशिक्षणस्य कृते त्रयः प्रमुखाः विधयः सन्ति, तद्यथा-

पुस्तकविधिः

संस्कृतभाषायां कौशलं प्राप्तुम् एषः विधिः अतीव प्रचलितः अस्ति। अस्मिन् विधौ पुस्तके भाषार्जनाय मासात्मकः द्विमासात्मकः वा पाठ्यक्रमः प्रदीयते। प्रतिदिनम् एकं पाठं पठित्वा निर्धारितसमये अनुवादकौशलस्य लक्ष्यं प्राप्तुं शक्यते। संस्कृतेन अनुवादाय बृहद्-अनुवादचन्द्रिका, रचनानुवादकौमुदी, अनुवादरत्नाकरः, संस्कृत-स्वयं-शिक्षकः, संस्कृतशिक्षणसरणी चेत्यादीनि अनेकानि पुस्तकानि रचितानि सन्ति। एतेषु पुस्तकेषु सरलात् कठिनं प्रति' इति शिक्षणसूत्रस्य आधारे परस्परं सम्बद्धाः अनेके पाठाः भवन्ति । पूर्वदिनस्य पाठम् अपठित्वा अग्रिमस्य दिनस्य पाठस्य अवगमनं दुस्साध्यं भवति। अतः सर्वेऽपि पाठाः क्रमेण एव पठनीयाः भवन्ति ।

द्विभाषाविधिः

एषः विधिः राष्ट्रियसंसदि, संयुक्तराष्ट्रसङ्घः, अन्तराष्ट्रिय नेतृसम्मेलनम् इत्यादिषु औपचारिकेषु सम्मेलनेषु प्रचलितः अस्ति। अद्यत्वे एतदर्थं यान्त्रिक-सौविध्यमपि उपलब्धम् अस्ति। यत्र यान्त्रिकसौविध्यं न भवति, तत्र द्विभाषाविधिना कश्चन जनः त्वरितरूपेण अनुवादं करोति। अस्मिन् एकः पक्षः स्वमातृभाषया वाक्यं वदति । तत् श्रुत्वा द्विभाषाभाषी जनः द्वितीयभाषया अनुवादं कृत्वा द्वितीयपक्षं विषयं बोधयति । पुनः द्वितीयपक्षस्य प्रत्युत्तरं वार्ता वा श्रुत्वा प्रथमपक्षं तस्य मातृभाषया बोधयति। एवं हि द्विभाषाभाषी जनः द्वयोः पक्षयोः मध्ये भाषासेतुरूपेण कार्यं करोति । एतेन विधिना उभयोः पक्षयोः समयस्य महत् संरक्षणं भवति ।

अनुकरण-तुलनाविधिः

अस्मिन् विधौ प्रथमतः शिक्षकः एकस्य अनुच्छेदस्य आदर्शनवादं करोति । तत्पश्चात् सः छात्राणां पुरतः आदर्शनवादं प्रस्तौति । छात्राः तम् आदर्शनवादं सम्यक्तया पठन्ति । पुनः शिक्षकः छात्राणां कृते मातृभाषया

रचितं मूलम् अनुच्छेदम् अथवा तादृशमेव अन्यम् अनुच्छेदं दत्त्वा अनुवादाय तान् निर्दिशति। छात्राः आदर्शानुवादस्य शैल्याः अनुकरणं कृत्वा स्वक्षमतया अनुवादं कुर्वन्ति । पुनः छात्राः आत्मकृतस्य अनुवादस्य तुलनाम् आदर्शानुवादेन सह कुर्वन्ति । शिक्षकः छात्रकृतस्य अनुवादस्य संशोधने साहाय्यम् आचरति ।

संस्कृतेन अनुवादे ध्यातव्यांशाः

अनुवादलेखनस्य कार्यशालायाः आयोजनं करणीयम्।

अन्वयमुखेन अर्थात् कर्ता, कर्म क्रिया चेति क्रमेण अनुवादः स्यात् ।

विशेष्य-विशेषणसम्बन्धस्य विषये अनुवादकस्य जागरूकता स्यात् ।

अपि, वा, च इत्यादीनाम् अव्ययानां यथायोग्यक्रमे एव प्रयोगः स्यात् ।

यद्यपि-तथापि, यावत्-तावत्, यदा तदा इत्यादीनां युग्मप्रयोगे जागरूकता स्यात्।

बहुधा संस्कृते कर्तृपदं क्रियापदं वा गुप्तं भवति, अनुवादे तस्य उल्लेखः स्यात् ।

अनुवादे व्याकरणगतदोषाः न स्युः।

यथासम्भवरूपेण अनुवादे अनेकार्थकानां शब्दानां प्रयोगः न स्यात् ।

संस्कृतेन अनुवादे प्रभाववर्धकोपायाः

अनुवादे सरलमानकसंस्कृतस्य प्रयोगः स्यात् ।

अनुवादे सन्धेः उपयोगः न्यूनः स्यात् ।

अनुवादे लघुसमासानां प्रयोगः अधिकतया स्यात् ।

मातृभाषायां ये संस्कृतनिष्ठाः शब्दाः भवन्ति, तेषामेव प्रयोगे श्रद्धा करणीया।

एकस्य अर्थस्य अनुवादार्थं भाषान्तरे सदैव एकः एव शब्दः प्रयोक्तव्यः ।

अनुवादाय विषयवस्तुनः पूर्वज्ञातं छात्रस्तरानुरूपं च स्यात् ।

अनुवादे अधिकाधिकरूपेण सुबन्तशब्दानां परस्मैपदधातूनां च प्रयोगः करणीयः ।

अनुवादः यथासम्भवरूपेण कर्तृवाच्यस्य एव प्रयोगः करणीयः ।

अनुवादे सारल्यदृष्ट्या कृत्-प्रत्ययानां प्रयोगः आधिक्येन करणीयः

सारांशः

अनुवादमाध्यमेन पाठकः श्रोता वा अन्यभाषायाः सूचनां स्वमातृभाषया त्वरितरूपेण अवगन्तुं शक्नोति । अनुवादकारणतः एव विश्वजनसमुदायः रामायणम्, श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चतन्त्रं चेत्यादीनां सहस्रशः संस्कृतग्रन्थानां प्रथमपरिचयं प्राप्तवान् । अन्यभाषासु रचितानाम् अनेकेषां ग्रन्थानां संस्कृतभाषया अपि अनुवादः प्रकाराः सन्ति । तत्र शब्दानुवादे मक्षिकास्थाने मक्षिकावत् शब्दकोशस्य आधारे सञ्जातः । अनेन संस्कृतसाहित्यस्य अपि श्रीवृद्धिः सञ्जाता। अनुवादस्य अनेके शब्दशः अनुवादः क्रियते । भावानुवादे अनुवादकर्ता भावमाश्रित्य सम्प्रेषण-भावनया स्वशब्दैः अनुवादं करोति । छायानुवादे अनुवादकर्ता मूलभाषया बद्धः भूत्वा तस्याः छायायां द्वितीयभाषया लक्ष्यभाषया वा विषयगततथ्यानि वर्णयति । एतदतिरिच्य व्याख्यानानुवादः, सारानुवादः, आशुः अनुवादः, रूपान्तरणानुवादः इत्यादयः अपि अनुवादस्य प्रकाराः भवन्ति । अनुवादप्रकारेषु आदर्शानुवादः श्रेष्ठः भवति । अत्र एवं प्रतीयते यत् मूलभाषायाः (Source Language) लेखकः एव कदाचित् लक्ष्यभाषायामपि (Target Language) समानाधिकारेण विषयम् उपस्थापयन् अस्तीति । सामाजिक-सांस्कृतिकभेदानां कारणतः सर्वथा सटीकः अनुवादः (Exact Translation) दुःसाध्यः भवति। लोकोक्तीनां पारिभाषिकशब्दानाञ्चापि अनुवादः जागरूकतया करणीयः। अनुवादशिक्षणाय पुस्तकविधिः, द्विभाषाविधिः अनुकरण-तुलनाविधिः च इत्येते विधयः प्रयुज्यन्ते ।

सहायकग्रन्थाः

१. मिश्रः, लोकमान्यः (२०११); साहित्यशिक्षणविधयः, मृगाक्षीप्रकाशनम्, लखनऊ।
२. अच्यर, विश्वनाथ एन.ई. (२००९); अनुवाद कला, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
३. चौबे, विजयनारायण (१९८५); संस्कृत शिक्षण विधि, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
४. द्विवेदी, कपिलदेव (१९७८); प्रौढरचनानुवादकौमुदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
५. नौटियाल, चक्रधर (१९६२); बृहद् अनुवादचन्द्रिका, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
६. पाण्डेय, रामशकल (२०१०); संस्कृत शिक्षण, श्रीविनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
७. मिश्र, सन्तकुमार (२०१३); संस्कृत-शिक्षण, आर.लाल. बुक डिपो, मेरठ।



हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य

डॉ. प्रगति सरोज*

भारतीय वांगमय में आदि काल से ही शिष्ट साहित्य और जनसाहित्य का सिलसिला मिलता है। सामाजिक संरचना के कारण भारतीय समाज विभिन्न वर्गों या श्रेणियों में बँटा होने के कारण आज तक, इस श्रेणी विभाजन के दंश को हम झेल रहे हैं। प्राचीनकाल में दलितों को पढ़ने-लिखने का अधिकार नहीं दिया गया था, फलस्वरूप समाज में एक ऐसा वर्ग या जो शोषित, अपमानित, वंचित, उत्पीड़ित, उपेक्षित, दमित और बहिष्कृत था। अपने को शिष्ट कहने वाले लोग अध्ययन-अध्यापन करते थे, परन्तु यह अधिकार वंचितों को नहीं दिया गया था। आश्चर्य तो तब होता है, जब ये उपेक्षित और दमित जातियाँ शिष्ट और सभ्य कहे जाने वाले लोगों का कार्य करते थे। कार्य करते समय उनमें छूत नहीं थी, परन्तु कार्य पूरा हो जाने के बाद वही व्यक्ति अछूत की श्रेणी में गिना जाने लगता था। उदाहरण के लिए बाँस की टोकरी, दौरी, मौनी आदि बनाने का कार्य धरकार करता था। जिसका प्रयोग लोग शादी व्याह में करते थे, जमींदारों के यहाँ खेती का काम बंधुआ मजदूर की तरह ये अनुसूचित जातियाँ करती थीं, परन्तु जब खेतों से अन्न जमींदारों के घरों में चला जाता था, तब अनुसूचित या दलित जातियाँ उसे छू तक नहीं सकती थीं। इस सम्बन्ध में श्री माता प्रसाद जी ने कहा है— “जब दलित के साथ साहित्य जुड़ जाता है, तब वह अपमानितों पीड़ितों शोषितों एवं वंचितों का साहित्य हो जाता है। इसमें जहाँ एस०सी०, एस०टी० पिछड़ी जातियाँ सम्मिलित हैं, वहीं पीड़ित स्त्रियाँ विधवाएँ देव दासियाँ वेश्याएँ बन्धुआ मजदूर कूड़े के ढेर पर प्लास्टिक बीनने वाले और अनाथ भी सम्मिलित हैं। दलित साहित्य का उद्देश्य भेदभाव भरी सामाजिक व्यवस्था को बदलने का एक तीव्र स्वर है, यह साहित्य दलितों की दर्द भरी दास्तान और चीख की पुकार ही नहीं बल्कि उसे दूर करने के लिए संघर्ष की एक तलवार भी है। यह साहित्य जति, वर्ण, रंग, नस्ल, लिंग भेद से ऊपर उठकर सभी की स्वतंत्रता समानता न्याय और बन्धुत्व का पक्षधर है।”

हिन्दी में दलित साहित्य का आरम्भ किसी न किसी रूप में बहुत पहले हो गया था, समाज की इस उपेक्षित वर्ग की पीड़ा को सिद्धों और नाथों ने भी अपनी वाणियों के जरिए प्रस्तुत किया था और वहीं विचारधारा मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य की सन्त काव्य धारा में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। जिसमें सन्त शिरोमणि कबीर दास, रैदास, दादूदयाल, भीखा साहब जैसे अनेक संत साधकों ने समाज में फैले हुए इस प्रकार के अत्याचार अन्याय और शोषण के विरुद्ध खुलकर बात कही है, इस आधार पर यह स्पष्ट है कि दलित साहित्य हर एक युग में किसी न किसी रूप में अपनी मौजूदगी दर्शाता रहा है। कभी वह मौखिक रूप से और कभी लिखित रूप में। यही कारण है कि आजकल भी गाँव में रहने वाले दलितों ने रामायण और रामचरित मानस के समानान्तर ‘गड़बड़ रामायण’ या ‘अदभुत रामायण’ की रचना कर डाली है, जो एक सीमित क्षेत्र में दलित और पीड़ित समुदाय के बीच प्रचलित और प्रसारित है।

दलितों की पीड़ा समस्या और अन्यायपूर्ण शोषण आदि की कथा भारतीय साहित्य में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। प्रेमचन्द दलित साहित्यकार नहीं थे, लेकिन उनकी रचनाओं में दलितों की पीड़ा जमींदारों और सेठ साहूकारों द्वारा उनका शोषण और दलित जातियों में विशेष रूप से दलित जाति द्वारा मरे हुए जानवरों को गाँव से बाहर ले जाना, उसके चमड़े उतारना और कुछ हद तक उसके माँस भी खाने का प्रसंग आया है। जिसका मेल तुलसीराम की आत्मकथा ‘मुदरहिया’ में देखने को मिलता है। यहाँ पर तुलसीराम दलित साहित्यकार हैं और उन्होंने जिस स्पष्टता और बेबाकी के साथ अपने जीवन की घटनाओं को प्रस्तुत किया है, उसे पढ़ कर आज के कुछ पाठकों को विश्वास नहीं होगा कि समाज में ऐसा भी होता था, लेकिन सच्चाई यही है कि तुलसीराम ने जो कुछ लिखा है, उसमें किसी प्रकार की बनावट नहीं है, बल्कि सारे तथ्य

* सहायक आचार्य, माँ चंद्रावती देवी महिला महाविद्यालय, मेंहनगर, आजमगढ़

एकदम सत्य घटनाओं पर ही व्यक्त किए गए हैं। प्रो० तुलसीराम ने प्राथमिक पाठशाला में किस प्रकार दलित बच्चों के साथ व्यवहार किया जाता था, उसका जो वर्णन इनकी रचना में मिलता है, वैसा ही भेदभाव डॉ० भीमराव अम्बेडकर के साथ भी पाठशाला में होता था।

भोजपुरी भाषा में लिखी गयी हीराडोम की 'अछूत की शिकायत' सन् 1914 ई० में प्रतिष्ठित सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। जिसे हिन्दी में पहली दलित कविता का स्थान दिया जाता है। इस कविता को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शोषितों का दबा हुआ, आक्रोश फूट पड़ा है। इस कविता के कुछ अंश देखे जा सकते हैं—

हमनी के सहिबे से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवनवौ न देखता जे,
हमनी के कबले कलेसवा उटाइबि।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाये देले,
पाँके में से भरि—भरि पियतानी पानी।
पनही से पीटि—पीटि हाथ—गोड़ तोरि देला,
हमनी के एतना काँहे के परेसानी।

इस प्रकार सर्वप्रथम दलित आक्रोश फूट पड़ा है और हीराडोम ने इस कड़ी में भगवान को भी नहीं छोड़ा है। वह कहता है कि छूत के भय से ईश्वर भी हमारी बात नहीं सुनता। इस प्रकार हीराडोम की यह कविता उपेक्षित जन काव्य में पहली कविता मानी जाती है। इसी दौरान अछूतानन्द 'हरिहर' ने 'आदि हिन्दू' आन्दोलन चलाया और पत्रिका के माध्यम से सम्पूर्ण उत्तर भारत के दलितों में एक नई चेतना उत्पन्न की उन्होंने उनके की चोट पर कहा है—

सभ्य ये हम हिन्द के प्राचीन हैं हकदार हम।
था बनाया शूद्र हमको, ये कभी सरदार हम।।

दलित साहित्य लेखन का कार्य निरन्तर आगे बढ़ता रहा। दलित साहित्य को प्रगति देने में शंकरानन्द शास्त्री (पंजाब), बिहारी लाल हरित (दिल्ली), चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु (लखनऊ), पश्चिमी उत्तर प्रदेश के वंशीराम बेधड़क तथा बुद्धिसंघ प्रेमी जैसे लोगों ने दलित साहित्य को विकसित करने का कार्य किया। जिस समय बिहारी लाल (हरित), जयभीम का नारा लिख रहे थे, उसी समय कानपुर के रामचन्द्र कुरील सत्य नारायण व्रत कथा के विरोध में भगवान रविदास सत्यकथा लिख रहे थे। इस प्रकार डॉ० भीमराव अम्बेडकर की जीवनी एवं विचारधारा से प्रेरित एवं प्रभावित होकर डॉ० गया प्रसाद 'प्रशांत' ने 'भीम चेतावनी' 'भीम गीतावली', माता प्रसाद ने भीम शतक काव्य एवं एकलव्य मोतीराम शास्त्री ने रावण नहीं तथागत है। जैसी रचनाएँ लिखकर दलित समाज में एक नई स्फूर्ति जागृत की। इसी प्रकार राम भरोसे लाल ने 'अभिशाष', चिरंजी लाल चंचल का 'सूरज निकला नहीं' लक्ष्मी नारायण सुधाकर की उत्पीड़न की यात्रा, भीम सागर राजपाल राज की भीम भारती, बलवंत राय की समय की शिला पर थिरकते लोक गीत, द्रोण दीक्षा, नाथू राम सागर की भीम प्रशस्ति, नाथू राम ताम्रमैलीका भारत के वीर दिलीप सिंह अशक का सच्च खड़ा है, सामने एवं नाथूराम पथिक का 'उठो से जवानों जैसी रचनाएँ पाठकों के सम्मुख सदियों से अपमानित पीड़ित शोषित जनता की भावनाओं को अस्सी के दशक में दलित रचनाओं ने आक्रोश, रोष एवं विद्रोही स्वर में प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास किया, इस सम्बन्ध में मलखान सिंह का कहना है— "हमारी दास्तों का सफर तुम्हारे जन्म से शुरू होता है और इसका अन्त भी तुम्हारे अन्त के साथ होगा।" जय प्रकाश करदम के अनुसार— "अपनी भूख और बेबशी को कोशता है और ईष्या ग्लानि और क्षोभ से भरकर ब्राह्मणों की जातिवादी व्यवस्था के जूते में आक्रोश की कील ठोक देता है।" इस प्रकार अस्सी के दशक से लेकर और उसके बाद दलित साहित्य की अनेक रचनाएँ हुई हैं। जिनमें उपन्यास आत्मकथा कहानियाँ और काव्य विशेष रूप से मिलते हैं।

सन्दर्भ सूची –

दलित चेतना सोच, मैनेजर पाण्डेय
दलित विमर्श और हिन्दी साहित्य, दीपक कुमार पाण्डेय
भीमराव अम्बेडकर एक जीवनी, क्रिस्टोफ जफर्लो
दलित साहित्य के प्रतिमान, डॉ. एन. सिंह



कोरोना महामारी और सामाजिक संबंध— एक विश्लेषण

मुकेश कुमार*

सार :

कोरोना महामारी (COVID-19) ने न केवल वैश्विक स्वास्थ्य व्यवस्था को चुनौती दी, बल्कि सामाजिक संबंधों की संरचना, प्रकृति और व्यवहारिक स्वरूप को भी गहराई से प्रभावित किया। यह लेख सामाजिक संबंधों पर महामारी के बहुआयामी प्रभावों का विश्लेषण करता है, जिसमें परिवार, समुदाय, कार्यस्थल, तथा आभासी (virtual) संबंधों के परिवर्तन को समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन यह दर्शाता है कि महामारी ने जहाँ एक ओर सामाजिक दूरी (social distancing) और अलगाव (isolation) को बढ़ावा दिया, वहीं दूसरी ओर डिजिटल माध्यमों के जरिए नए प्रकार के सामाजिक जुड़ाव भी उत्पन्न किए।

कोरोना संकट के बीच हमारे समाज ने लंबा लॉकडाउन देखा है। महामारी के इस चुनौती के बीच हम सब घरों में रहने को मजबूर हुए हैं, लेकिन इस मजबूरी ने जहाँ जीवन जीने के तरीके बदले हैं वहीं पुराने संबंधों के प्रति एक ऊर्जा को दोबारा पैदा किया है। यदि हम याद करें कोरोना से पहले की जिंदगी और बाद की जिंदगी, कितना अंतर आया है इसमें। पहले भागती-दौड़ती जिंदगी में किसी के पास हालचाल लेने तक की फुर्सत नहीं थी वहीं लॉकडाउन में घरों में रहने के कारण हमारे आपसी संबंधों में एक राग और प्रेम भी पैदा हुआ है। रिश्तों की कद्र हुई है और हम अपनों के प्रति संवेदनशील भी हुए हैं। कई पुरानी बातों को भुलाकर हमने आपसदारी को बढ़ाया है और स्नेह व अपनत्व की डोर मजबूत हुई है।

विशिष्ट शब्द : चुनौति, कोरोना संकट, संवेदनशील, तनाव, महामारी इत्यादि।

21वीं सदी की सबसे गंभीर वैश्विक आपदा के रूप में उभरी COVID-19 ने मानव जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित किया। वर्ष 2019 के अंत में नौद से प्रारंभ हुई यह महामारी शीघ्र ही विश्वव्यापी संकट बन गई। इसके परिणामस्वरूप लागू किए गए लॉकडाउन, सामाजिक दूरी, और क्वारंटीन जैसे उपायों ने सामाजिक जीवन के मूलभूत ढाँचे को परिवर्तित कर दिया। सामाजिक संबंध, जो मानव समाज की आधारशिला हैं, महामारी के दौरान पुनर्परिभाषित हुए। इस अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि महामारी ने किस प्रकार पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं को चुनौती दी और नए सामाजिक व्यवहारों को जन्म दिया।

कोरोना एक ऐसा शब्द जिसे 21 वीं सदी में वैश्विक स्तर पर हर एक मानव समूह द्वारा समझ और महसूस किया गया है, जिसे हैजा और प्लेग के बाद तीसरी सबसे बड़ी महामारी के रूप में देखा गया है। एक ऐसी महामारी जिसने सामाजिक 'जीवन', इसके ताने-बाने को, इसमें होनेवाली अंतक्रिया एवं संबंधों को पूरी तरह हिला कर रखा दिया। कह सकते हैं कि सामाजिक संरचना में कोरोना जैसी महामारी का प्रवेश सामाजिक जीवन के साथ-साथ पारिवारिक और व्यक्तित्व जीवन में भूकंप के जैसा एक ऐसा एहसास था जिससे हमें सामाजिक संबंधों पर पुनः विचार करने पर मजबूर करती है कि पूर्व के सामाजिक संबंध और आज के सामाजिक संबंधों का स्वरूप क्या हो गया है – अर्थात् यह ऐसा ही प्रतीत हो रहा है जैसे कि नदी किनारे की रेत वाली जमीन पर निर्मित 10-12 मंजिला अति सुज्जित आकर्षक आलीशान मकानों का खड़ा होना। जो हल्के भूकंप के झटके से धाराशायी हो जाएगा। कोरोना एक वायरस की नई प्रजाति सामान्य मानव जीवन के दैनिक जीवन में अस्तित्व में आया जो इससे पहले घनघोर विहड़ो, जंगलो, गुफाओं और मानव से अतिदूर एक पक्षियों में निवास करता था परन्तु वर्तमान मानव की जिज्ञासु प्रकृति जो हर जगह छेड़-छाड़ करने पर उतारू है कभी-कभी उसके लिए ही प्राणघातक साबित होता है। उसका कोरोना एक नवीन एवं सजीव उदाहरण है। उत्सुकता, जिज्ञासा मानव का गुण है और चेतना का यह गुण ही मानव को मानव बनाता है परन्तु प्रकृति और मानव के मध्य एक सीमा रेखा है। हस्तक्षेप भी एक सीमा तक लाभकारी होता है, अति हस्तक्षेप एवं छेड़छाड़ स्वयं आप के लिए हानिकारक होती है क्योंकि प्रकृति का सिद्धांत है "जियो और जीने दो"। ज्ञान वृद्धि हेतु हस्तक्षेप स्वीकार्य होती है परन्तु वह हस्तक्षेप प्रकृतिक, संरचना में

* शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Email : kumarmukeshdharpur@gmail.com, Mob. : 6200274954

छेड़छाड़ या नुकसान करना शुरू करता है तो प्रकृति के नियत चक्र के अनुसार वह मानव समाज के लिए ही अहितकारी साबित होता है और कोरोना—प्रकृति के साथ अति क्रूरता का ही छोटा सा परिणाम स्वरूप के रूप में हमारे सामने आया जो ज्वालामुखी के पूर्व आने वाले भूकंप के रूप में एक संकेत मात्र से तुलना किया जा सकता है।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था 5,000 साल के संस्कृति एवं सभ्यता का एक उन्नत प्रतिफल है। मानव को मानव, समाज की व्यवस्था ही बनाती है और यह व्यवस्था एक विकसित सामाजिक संबंधों का ही परिणाम है परन्तु कोरोना महामारी का प्रकोप ने इस सामाजिक संबंधों जिसे हम वर्तमान विकसित सामाजिक व्यवस्था का उत्तम एवं उन्नत स्वरूप मान रहे थे उसपर पुनः विचार करने की आवश्यकता महसूस हुई। कोरोना एक अतिशीघ्र विसरण प्रवृत्ति की संक्रामक बीमारी है जिसके वायरस हवा में तेजी से फैलते एवं बढ़ते हैं इसने संपूर्ण मानवीय सामाजिक अंतक्रिया को रोकने पर मजबूर किया पूरी सामाजिक व्यवस्था छिन्न—भिन्न हो गई। चूंकि यह कोरोना वायरस सर्वप्रथम अस्तित्व में आया तो उसका कोई सही लक्षण और ना ही दवा या टीका का पता था और दूसरी सुबह में एक घर के एक लोग इससे संक्रमित है तो शाम तक सभी परिवार के सदस्य कोरोना वायरस के गिरफ्त में आ जाते : यह वायरस बड़ी तेजी से हवा द्वारा छुने, छीकने, खांसने साथ बैठने यहाँ तक की एक निश्चित दूरी मानव—मानव के मध्य तय कर दी गई वो भी सुरक्षित नहीं थी। कोरोना का वीभत्स स्वरूप तो तब देखने को मिला जब उत्तर कोरिया को छोड़कर अधिकांश देशों में श्मसान घाटो और कब्रिस्तान में लाशों को लाइन लगी पड़ी थी और इन मृत शवों के अपने उनके अंतिम विदाई में उनके साथ नहीं थे वे लावरिस पड़े रहें कारण कोरोना का भय अपने एक सदस्य को तो खो दिया अगर कोरोना से मृत व्यक्ति को भी किसी तरह के संपर्क में आए तो दुसरे सदस्य को नहीं खो सकते हैं। कोरोना ने तो कई घरों में परिवार काल के गाल में समा गई है। कहा जाता है भारतीय सदस्य को नहीं खो सकते हैं। कहा जाता है भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि व्यक्ति के अंतिम संस्कार में हर कोई क्या अपने क्या पराए सभी आते एवं सहयोग देते हैं कोरोना ने इस परंपरा को पूरी तरह तोड़ दिया। कोरोना ने तो कई घरों में परिवार के परिवार काल के गाल में समा गए और इस आतंकित भय के वातावरण को देखकर व्यक्ति, व्यक्ति से डरने लगा यहाँ तक कि अपने अंदर थोड़ा भी सर्दी—खाँसी, छीक आदि का संक्रमण पाता तो इस भय से कि कहीं मैं कोरोना पीड़ित तो नहीं हूँ, मैं मरने वाला तो नहीं हूँ कई तो भय से हार्ट—अटैक से मर जाते तो कई का समुचित देखभाल की कमी से क्योंकि इसमें मानवीय संपर्क को बिल्कुल प्रतिबंध कर दिया गया था। हर एक सामाजिक गतिविधि पर सरकार द्वारा प्रतिबंध जिसे लॉक डाउन (Lock Down) का नाम दिया गया शक्ति से पालन किया गया और पालन ना करने वालों को कानूनी सजा तक निर्धारित की गई। राशन और दवा की दुकानें छोड़कर सभी कुछ बंद, अस्पताल और डाक्टर ही अपना कार्य कर रहे बाकी अन्य सभी संस्थानों को पूर्णतः बंद कर दिया गया, ट्रांसपोर्ट अर्थात् यातायात के साधन (सरकारी एवं नीजी) सभी पर रोक लगा दिये गये लोग जहाँ है वही फंसे है बिना भोजन के एक अन्यत्र तरह की त्रासदी का स्वरूप मानव समाज में देखने को मिला जो प्राकृतिक नहीं पूर्णतः मानव निर्मित और पूर्णतः मानव की सबसे उन्नत कही जाने वाली मानव सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक संबंधों पर एक ऐसा प्रहार है जिसने मानव से मानवता को दूर कर रहा था जिसे नाम दिया गया Quarantine अर्थात् किसी भी मानवीय संपर्क से दूरी और Sanetize अर्थात् अपने आप को किसी भी वातावरणीय या वस्तु के संपर्क में आने पर स्वयं को साबुन और जल से साफ करना। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि यह मानव ने जो विकास के नाम पर आज अपने आसपास के वातावरण और प्रकृति को प्रदूषित किया है तथा तकनीक के नाम पर जो मानवीय संबंधों की अवहेलना कर रहा है उसका एक ट्रेलर या कि जो यह मानवीय समाज कर रहा है अगर यह प्रकृति भी इससे करने लगे तो आपका संपूर्ण मानव समाज ही अपने अस्तित्व को खोने के कगार पर आ जाएगा, अर्थात् प्रकृति, मानव दोनों को साथ—साथ चलना है और विकास के नाम पर खेलवाड़ स्वयं आप मानव के सामाजिक जीवन को ही तहस—नहस कर देगा और विकास की मूल परिभाषा आपको प्रकृति सिखा देगी जो कि कोरोना द्वारा इसी परिभाषा को सिखाने का एक छोटी सी फिल्म (Short movie) कह सकते हैं।

वर्तमान सामाजिक संबंधों के जाल फास कि सुदृढ़ नजर आती थी चाहे वह ग्रामीण क्षेत्रों में हो या शहरी क्षेत्रों में तकनीक ने लगभग सभी मानव संबंधों पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ रखा था और जब कोरोना महामारी ने व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य संबंधों ECG कर दिया और बताया कि संबंधों में गॉट पड़ी है और यह ठीक तभी होगी जब इसकी सर्जनरी की जाएगी अर्थात् बहुत विषाक्ता (Toxin) सामाजिक संबंधों में आ गई है लोग साथ होकर भी साथ नहीं, सामूहिक दायित्व एवं सहयोग की भावना अब इसकी विशेषता नहीं रह

गई है बल्कि यह विलुप्त होने के पहले कुछ-कुछ व्यक्तियों के अंतर्मन में स्थित रहकर ही सीमित हो गई है। समाज के मूल्य एवं प्रतिमान इस तरह बदल रहे हैं इसमें हम की भावना का छाव हो रहा है और स्वार्थता हावी होती जा रही है।

भारत के प्रसिद्ध समाजशास्त्री लुई ड्यूमों ने भारत को जाति समाज कहा है और जाति अर्थात् भेदभाव, ऊँच-नीच, छुआछुत, का समावेश, भले ही कहा जाए कि नहीं जाति का प्रभाव अब नहीं रहा है परन्तु बिहार खासकर बिहार जैसे बीमारू कहे जाने वाले राज्य जिसे विभिन्न आंकड़ों का सतयापन प्राप्त है। ग्रामीण क्षेत्र जैसे नालन्दा जिले जहाँ Rurban अर्थात् ग्रामीण और शहरी का मिश्रित सामाजिक व्यवस्था देखी जाती है के संदर्भ में कहा जा सकता है कि विभिन्न जाति के मध्य भेदभाव-छुआछुत की भावना को अगर आप सही मानते हैं तो अगर यह भेदभाव, परिवार के सभी सदस्यों के मध्य पिता-पुत्र, माता-पिता अर्थात् हर प्राथमिक से लेकर तृतीय नातेदारी संबंधों में दिखाई देने लगे, परिवार के सभी सदस्य एक-दूसरे को छुने से भी डरे, भेदभाव वाला व्यवहार करें की रही इन्हें कोरोना वायरस को संक्रमण तो नहीं हो रखा है, तो यह जो परिणाम लेकर आया जिसे हम व्यक्तिवादिता के नाम पर तकनीक के बल पर ऊँचा समझ सामाजिक प्रतिष्ठा का उच्च मानक के रूप में स्थान दे रहे थे। कोरोना महामारी ने व्यक्तिवादिता, स्वार्थता निजता के उस आयाम का भविष्य क्या होगा के रूप में आइना दिखाया कि उपरोक्त तीनों व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में अहम् स्थान रखते हैं परन्तु वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ने इसके केवल नाकारात्मकता को सर्वोच्च दर्जा/स्थान दे रखा है तो देखो, समझो और सुधर जाओ नहीं तो प्रकृति में तो स्वयं निर्माण की क्षमता होती है तुम मानवीय सामाजिक व्यवस्था का होगा जो हजारों सालों की मानवीय विकास का सूचक रहा है यूँ कहे कि कोरोना महामारी और सामाजिक संबंध एक-दूसरे का आइना भी है और सहयोग भी। अब निर्भर यह करता है कि हम मानव समाज इसे किस तरह से बुनते हैं क्योंकि सामाजिक संबंध मानवो का ही संबंध है तो इन संबंधों में व्यक्तिवादिता के साथ-साथ समाजवादिता का भी गठजोड़ होना चाहिए लेकिन दोनों एक-दूसरे के उपर निर्भर होते हुए भी अपना-अपना अस्तित्व रखते हो। जैसे कि एक खेत में क्यारी बनाकर हर पौधे को उसके प्रकृति के अनुसार फलने-फूलने का स्थान दिया जाता है और एक साथ विभिन्न फसलों की बुनाई की जाती है तभी एक उन्नत खेती और फसल का स्वरूप निकलकर सामने आता है। प्रकृति ने कोरोना के माध्यम से हमें यह समझाने का प्रयास किया कि हमारा मानव समाज एक उन्नत समाज है परन्तु हमने आज इसे आडम्बरों, झूठों, दिखावों जैसी तमाम खोखली चीजों से भर दिया है साथ-ही-साथ व्यक्ति के शरीर को भी बेमतलब, नुकसानदायक ईंधनों को पचाने का क्षेत्र बना रखा है। अगर आप सभ्य कहला रहे हैं तो एक सभ्य नजरो से समझदारी की दृष्टि से स्वयं के अंदर (स्व) और स्वयं के बाहर सामाजिक संबंधों को विश्लेषण करे और दूरदृष्टिता बने कि आपने जो कर दिया सो कर दिया अब और ना करे, ना स्व के साथ और स्वयं द्वारा निर्मित अपने आसपास के वातावरण के साथ क्योंकि इसका नुकसान केवल और केवल आपको होगा। अपना (मानव का) अस्तित्व बनाए रखना है तो मानवता लाए क्योंकि सामाजिक संबंधों में अगर सकारात्मक प्रभाव को बढ़ाना है तो यह अति आवश्यक है।

सामाजिक संबंधों के प्रायः दो आयामों को प्रचलित सामाजिक अंतः क्रिया में देखा जाता है- आंतरिक एवं बाह्य अर्थात् जिसमें भावना, परहित, सामाजिकता एवं सामूहिकता का भाव अधिक हो वह आंतरिक सामाजिक संबंध होते हैं जो कि कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी एक-दूसरे अर्थात् एक मानव का दूसरे मानव के प्रति सहानुभूति, सहिष्णुता एवं कल्याणों के साथ मदद करने का तैयार होता है, वही बाह्य सामाजिक संबंध जिसमें स्वार्थ, स्वयं का महिमांडन निजहित, मौका परस्त आदि गुणों का संबंधों के मध्य अधिक पाया जाता है तथा यह संबंध स्वलाभ से अधिक प्रभावित होते हैं। कोरोना ने समाज एवं सामाजिक व्यवस्था या यूँ कहें कि नातेदारी के मध्य यह अंतर क्रिस्टल किलर हो गया अर्थात् संबंधों की गहराई का पता चला क्योंकि कोरोना में सरकारी या नीजि किसी भी तरह की मदद से अधिक समाज की, परिवार की मदद की आवश्यकता पड़ी, गाँवों, कस्बों की महत्ता का पता चला और उसमें भी इस भौतिकवादी युग में भौतिकता से अधिकता मातृत्वताके महत्व ज्ञात हुआ और भारतीय संस्कृति की जिसे वर्तमान पश्चिमी सभ्यता के चकाचौंध ने धुमिल कर रहा था उसका यर्थात् हमारे सामने आये। भोजन ने भारतीय मसानों, भारतीय जड़ी-बुटिया क्या महत्व रखता है और दादा-नाना, माता-पिता की जीवनशैली की, उनके व्यवहार का क्या वैज्ञानिक एवं तार्किक महत्व हो इसकी प्रासंगिकता पता चली। साथ ही परिवार का महत्व और हमारे पारिवारिक सामाजिक संबंध कितने ठोस और दूरदृष्टि सोच का परिणाम है यह कोरोना महामारी ने हमें भलीभाँति समझा दिया।

सहित्य समीक्षा

कोरोना महामारी (COVID-19) के सामाजिक प्रभावों पर वैश्विक स्तर पर व्यापक शोध कार्य किया गया है। इस खंड में 2020 के बाद के प्रमुख अध्ययनों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि सामाजिक संबंधों पर महामारी के प्रभाव को विद्वानों ने किस प्रकार समझा है।

Robert D- Putnam (2000) अपनी पुस्तक *Bowling Alone* में पुटनम ने सामाजिक पूंजी (social capital) के ह्रास पर चर्चा की। यद्यपि यह अध्ययन महामारी से पूर्व का है, लेकिन महामारी के दौरान सामाजिक अलगाव को समझने में यह अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध हुआ।

World Health Organization (2020) WHO की रिपोर्टों में महामारी के दौरान मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक अलगाव के बढ़ते प्रभावों को रेखांकित किया गया। रिपोर्ट के अनुसार, सामाजिक दूरी ने अकेलेपन और तनाव को बढ़ाया, जिससे सामाजिक संबंधों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

Julianne Holt & Lunstad (2020) होल्ट-लनस्टेड के शोध में सामाजिक अलगाव और स्वास्थ्य के बीच संबंध को स्पष्ट किया गया। महामारी के दौरान उनके निष्कर्षों ने यह दिखाया कि सामाजिक अलगाव मृत्यु दर और मानसिक समस्याओं को बढ़ा सकता है।

Arundhati Roy (2020) अपने लेख *The Pandemic is a Portal* में रॉय ने महामारी को सामाजिक परिवर्तन के अवसर के रूप में देखा। उन्होंने तर्क दिया कि यह संकट सामाजिक संबंधों को पुनर्परिभाषित करने का अवसर प्रदान करता है।

Zygmunt Bauman बाउमन के 'Liquid Modernity' सिद्धांत के अनुसार, आधुनिक समाज में संबंध अस्थिर और तरल होते हैं। महामारी के दौरान डिजिटल संबंधों की बढ़ती प्रवृत्ति इस सिद्धांत को पुष्ट करती है।

Manuel Castells (2020) कैस्टेल्ल्स ने नेटवर्क समाज (network society) की अवधारणा के माध्यम से बताया कि डिजिटल माध्यमों ने महामारी के दौरान सामाजिक संबंधों को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

Deborah Lupton (2021) लुप्टन के अध्ययन में डिजिटल तकनीकों और सामाजिक जीवन के अंतर्संबंधों पर प्रकाश डाला गया। उन्होंने बताया कि महामारी ने 'डिजिटल सामाजिकता' (digital sociality) को बढ़ावा दिया।

Jean Drèze (2020-21) ड्रेजे ने भारत में लॉकडाउन के सामाजिक प्रभावों का अध्ययन करते हुए बताया कि गरीब और प्रवासी वर्गों के सामाजिक संबंधों पर गहरा नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

Amartya Sen (2020) सेन ने महामारी के दौरान सामाजिक असमानता और सामुदायिक सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार, सामाजिक संबंधों की मजबूती संकट से उबरने में सहायक होती है।

Indian Council of Social Science Research (2021) ICSSR की रिपोर्ट में यह पाया गया कि महामारी के दौरान भारतीय समाज में पारिवारिक संबंध मजबूत हुए, किन्तु सामाजिक दूरी ने सामुदायिक संबंधों को कमजोर किया।

अध्ययन के उद्देश्य

कोरोना महामारी के सामाजिक संबंधों पर प्रभाव का विश्लेषण करना।

पारिवारिक एवं सामुदायिक संबंधों में आए परिवर्तनों का अध्ययन।

डिजिटल माध्यमों के बढ़ते उपयोग और उसके सामाजिक प्रभावों का मूल्यांकन।

सामाजिक अलगाव और मानसिक स्वास्थ्य के संबंध का विश्लेषण।

परिकल्पना

कोरोना महामारी ने सामाजिक संबंधों की प्रकृति, संरचना एवं कार्यप्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न किया है।

महामारी के दौरान पारिवारिक सदस्यों के बीच निकटता एवं संवाद में वृद्धि हुई है।

महामारी के दौरान डिजिटल माध्यमों के उपयोग में वृद्धि से सामाजिक संबंधों का आभासी स्वरूप विकसित हुआ है।

निष्कर्ष

कोरोना महामारी (COVID-19) ने मानव समाज के सामाजिक ताने-बाने को गहराई से प्रभावित किया है। यह केवल एक स्वास्थ्य संकट नहीं था, बल्कि एक व्यापक सामाजिक परिवर्तन का भी माध्यम बना। इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि महामारी ने सामाजिक संबंधों की प्रकृति, स्वरूप और कार्यप्रणाली तीनों को पुनर्परिभाषित किया।

सबसे पहले, पारिवारिक संबंधों में द्वंद्वात्मक प्रभाव देखने को मिला। एक ओर परिवार के सदस्यों के बीच निकटता और संवाद बढ़ा, वहीं दूसरी ओर लंबे समय तक साथ रहने के कारण तनाव, संघर्ष और घरेलू हिंसा जैसी समस्याएँ भी उभरीं। इससे यह सिद्ध होता है कि सामाजिक संबंध केवल भौतिक निकटता पर निर्भर नहीं होते, बल्कि उनकी गुणवत्ता भी अत्यंत महत्वपूर्ण होती है।

दूसरे, सामुदायिक संबंधों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिला। सामाजिक दूरी और लॉकडाउन के कारण पारंपरिक सामुदायिक गतिविधियाँ बाधित हुईं, लेकिन संकट के समय सहयोग, सहानुभूति और परस्पर सहायता की भावना भी प्रबल हुई। इस प्रकार, महामारी ने सामाजिक एकजुटता के नए रूपों को जन्म दिया।

तीसरे, कार्यस्थल और पेशेवर संबंधों में डिजिटल माध्यमों का वर्चस्व स्थापित हुआ। 'वर्क फ्रॉम होम' संस्कृति ने कार्य संबंधों को अधिक औपचारिक और तकनीकी बना दिया, जिससे व्यक्तिगत संपर्क में कमी आई, लेकिन कार्य की निरंतरता बनी रही।

चौथे, डिजिटल सामाजिक संबंधों का विस्तार महामारी का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम रहा। सोशल मीडिया और ऑनलाइन प्लेटफॉर्म ने सामाजिक संपर्क बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालांकि, इन आभासी संबंधों में गहराई और भावनात्मक जुड़ाव की कमी भी स्पष्ट रूप से देखी गई।

पाँचवें, सामाजिक अलगाव का मानसिक स्वास्थ्य पर गंभीर प्रभाव पड़ा। अकेलापन, अवसाद और चिंता जैसी समस्याएँ बढ़ीं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक संबंध मानव के मानसिक और भावनात्मक संतुलन के लिए अनिवार्य हैं।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि COVID-19 महामारी ने सामाजिक संबंधों को समाप्त नहीं किया, बल्कि उन्हें एक नए, मिश्रित (भ्लेंड्ड) रूप में परिवर्तित कर दिया है, जहाँ पारंपरिक और डिजिटल दोनों प्रकार के संबंध सह-अस्तित्व में हैं।

संदर्भ सूची –

- विश्व स्वास्थ्य संगठन (2020). कोविड-19 महामारी और मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव. जिनेवा: विश्व स्वास्थ्य संगठन।
- विश्व स्वास्थ्य संगठन. (2021). सामाजिक दूरी और सामुदायिक स्वास्थ्य: एक वैश्विक रिपोर्ट. जिनेवा: विश्व स्वास्थ्य संगठन।
- अमर्त्य सेन. (2020). महामारी, असमानता और सामाजिक न्याय. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस।
- जाँ ट्रेज. (2021). लॉकडाउन और भारतीय समाज: एक विश्लेषण. नई दिल्ली: पेंगुइन प्रकाशन।
- अरुंधति राँय. (2020). महामारी: एक नया द्वार. नई दिल्ली: पेंगुइन रैंडम हाउस।
- भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद. (2021). कोविड-19 का भारतीय समाज पर प्रभाव. नई दिल्ली: आईसीएसएसआर।
- डेबोरा लुप्टन. (2021). डिजिटल समाज और कोविड-19. लंदन: रूटलेज प्रकाशन।
- मैनुअल कैस्टेल्स. (2020). नेटवर्क समाज और महामारी. ऑक्सफोर्ड: ब्लैकवेल प्रकाशन।
- जूलियन होल्ट-लनस्टैड. (2020). सामाजिक अलगाव और स्वास्थ्य प्रभाव. अमेरिकन जर्नल ऑफ हेल्थ (शोध लेख)।
- संयुक्त राष्ट्र संगठन. (2020). कोविड-19 और सामाजिक संरचना पर प्रभाव. न्यूयॉर्क: संयुक्त राष्ट्र प्रकाशन।
- भारत का स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय. (2021). कोविड-19 प्रबंधन और सामाजिक दिशा-निर्देश. नई दिल्ली: भारत सरकार।
- एंथनी गिडेन्स. (2009). समाजशास्त्र. कैम्ब्रिज: पॉलिटी प्रेस।
- रॉबर्ट डी. पुटनम. (2000). अकेले खेलना: सामाजिक पूंजी का ह्रास. न्यूयॉर्क: साइमन एंड शुस्टर।
- जिग्मुंट बाउमन. (2000). तरल आधुनिकता. कैम्ब्रिज: पॉलिटी प्रेस।



COVID-19 का प्राथमिक शिक्षा पर प्रभाव

अंजली कुमारी*

शोध सार -

COVID-19 महामारी ने विश्वभर की शिक्षा प्रणाली को गहराई से प्रभावित किया। प्राथमिक स्तर पर इसका असर सबसे अधिक देखा गया क्योंकि छोटे बच्चों की शिक्षा प्रत्यक्ष संवाद और सामाजिक सहभागिता पर आधारित होती है। स्कूल बंद होने से बच्चों की सीखने की निरंतरता टूट गई और ऑनलाइन शिक्षा पर निर्भरता बढ़ी। ग्रामीण और आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के बच्चों को डिजिटल उपकरणों और इंटरनेट की कमी के कारण शिक्षा से वंचित होना पड़ा। शिक्षकों को भी अचानक ऑनलाइन माध्यम अपनाना पड़ा, जिसके लिए पर्याप्त प्रशिक्षण और संसाधन उपलब्ध नहीं थे। परिणामस्वरूप शिक्षण की गुणवत्ता प्रभावित हुई। बच्चों में सीखने की हानि (Learning Loss) स्पष्ट रूप से देखी गई, विशेषकर पढ़ने और गणितीय कौशल में। सामाजिक दृष्टि से भी बच्चों की मित्रता, खेलकूद और सामूहिक गतिविधियाँ बाधित हुईं। मानसिक स्वास्थ्य पर असर पड़ा—एकाकीपन, तनाव और चिंता बढ़ी। महामारी ने यह स्पष्ट कर दिया कि शिक्षा केवल पाठ्यक्रम तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक और भावनात्मक विकास का भी महत्वपूर्ण साधन है।

प्रमुख शब्द - COVID-19, प्राथमिक शिक्षा, ऑनलाइन शिक्षण, डिजिटल असमानता, सीखने की हानि, मानसिक स्वास्थ्य

साहित्य समीक्षा -- UNESCO और UNICEF की रिपोर्टों में बताया गया कि महामारी के दौरान विश्वभर में 1.6 अरब से अधिक बच्चों की शिक्षा बाधित हुई।

भारत में NCERT और अन्य संस्थाओं ने पाया कि प्राथमिक स्तर पर सीखने की हानि सबसे अधिक रही।

विभिन्न अध्ययनों ने डिजिटल असमानता को शिक्षा में सबसे बड़ी चुनौती बताया।

मनोवैज्ञानिक शोधों ने बच्चों में तनाव, चिंता और सामाजिक अलगाव की समस्या को रेखांकित किया।

उद्देश्य - COVID-19 महामारी के दौरान प्राथमिक शिक्षा प्रणाली पर पड़े शैक्षिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभावों का विश्लेषण करना।

उपकल्पना - महामारी के कारण प्राथमिक शिक्षा में सीखने की गुणवत्ता, बच्चों की सामाजिक सहभागिता और डिजिटल असमानता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है।

प्रस्तुत शोधपत्र "COVID-19 महामारी का प्राथमिक शिक्षा पर प्रभाव" बहुत ही व्यापक प्रभाव पड़ा जिसका उद्देश्य ।

उद्देश्य - COVID-19 महामारी के दौरान प्राथमिक शिक्षा पर पड़े शैक्षिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभावों का विश्लेषण करना।

उपकल्पना - COVID-19 महामारी ने प्राथमिक शिक्षा में सीखने की गुणवत्ता को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है, विशेषकर ग्रामीण और वंचित वर्गों के बच्चों में।

सारांश - Covid-19 महामारी ने विश्व को स्वास्थ्य के क्षेत्र में और अनुसन्धान करने के लिए मजबूर कर दिया। महामारी की मार इतनी भयावह थी की हर कोई डरा-सहमा सा रह रहा था। इस महामारी के दौरान शिक्षा व्यवस्था को नये विकल्प online की ओर अग्रसर कर दिया। उस दौरान शिक्षा व्यवस्था में अनेक बदलाव आये जैसे -

* शोधार्थी – समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय बोधगया, kumarianjali76999@gmail.com

ऑनलाइन शिक्षा की चुनौतियाँ और अवसर
ग्रामीण बनाम शहरी क्षेत्रों में प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन
बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक विकास पर असर
शिक्षकों और अभिभावकों की भूमिका

भविष्य के लिए आवश्यक सुझाव (जैसे डिजिटल संरचना, शिक्षक प्रशिक्षण, हाइब्रिड शिक्षा मॉडल)

COVID-19 महामारी ने वैश्विक स्तर पर शिक्षा प्रणाली को गहराई से प्रभावित किया। प्राथमिक शिक्षा, जो बच्चों के बौद्धिक और सामाजिक विकास की नींव है, सबसे अधिक प्रभावित हुई। स्कूलों के लंबे समय तक बंद रहने से बच्चों की सीखने की प्रक्रिया बाधित हुई। ऑनलाइन शिक्षा का विकल्प तो उपलब्ध हुआ, लेकिन डिजिटल संसाधनों की असमानता ने शिक्षा में गहरी खाई पैदा कर दी। ग्रामीण क्षेत्रों और आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों के बच्चों को स्मार्टफोन, इंटरनेट और बिजली जैसी सुविधाओं की कमी के कारण शिक्षा से वंचित होना पड़ा। शोधों से पता चलता है कि बच्चों की पढ़ने और गणितीय क्षमता में उल्लेखनीय गिरावट आई। इसके अलावा, सामाजिक-भावनात्मक विकास भी प्रभावित हुआ। बच्चों में तनाव, चिंता और सामाजिक अलगाव की समस्या बढ़ी। शिक्षकों को भी डिजिटल माध्यम से पढ़ाने की नई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। सरकारों और गैर सरकारी संगठनों ने शिक्षा की निरंतरता बनाए रखने के लिए विभिन्न प्रयास किए, जैसे टीवी, रेडियो और वर्कशीट्स के माध्यम से शिक्षा पहुँचाना। लेकिन इन प्रयासों का प्रभाव सीमित रहा। महामारी ने यह स्पष्ट कर दिया कि शिक्षा में डिजिटल संसाधनों की समान उपलब्धता और शिक्षण पद्धतियों में लचीलापन आवश्यक है।

प्रस्तुत शोध पत्र में महामारी से पहले और महामारी से बाद की स्थिति पर ध्यान पूर्वक कुछ महत्वपूर्ण तथ्य दर्शाए गये हैं जो -

प्राथमिक शिक्षा की स्थिति – महामारी से पहले और बाद की तुलना

ऑनलाइन शिक्षा और डिजिटल विभाजन

सीखने में कठिनाई और शैक्षिक परिणाम

सामाजिक-भावनात्मक प्रभाव

शिक्षकों और अभिभावकों की भूमिका

नीतिगत प्रयास और उनकी सीमाएँ

निष्कर्ष

COVID-19 महामारी ने वैश्विक स्तर पर शिक्षा प्रणाली को अभूतपूर्व संकट में डाल दिया। मार्च 2020 से जब स्कूलों को बंद करना पड़ा, तब शिक्षा का पारंपरिक ढांचा पूरी तरह बदल गया। प्राथमिक शिक्षा, जो बच्चों के बौद्धिक, सामाजिक और भावनात्मक विकास की नींव होती है, महामारी के कारण सबसे अधिक प्रभावित प्राथमिक शिक्षा हुई।

सभी विद्यालय बंद जिससे लाखों बच्चों की पढ़ाई बाधित हुई और सीखने की निरंतरता टूट गई।

विद्यालय बंद रहने से ऑनलाइन शिक्षा का प्रचालन प्रारंभ हुआ और डिजिटल माध्यमों पर निर्भरता बढ़ी, लेकिन संसाधनों की असमानता ने शिक्षा में गहरी खाई पैदा कर दी।

शिक्षकों की चुनौतियाँ: अचानक ऑनलाइन शिक्षण अपनाना पड़ा, जिसके लिए पर्याप्त प्रशिक्षण और तकनीकी सहयोग उपलब्ध नहीं था।

सामाजिक-भावनात्मक असर: बच्चों की मित्रता, खेलकूद और सामूहिक गतिविधियाँ रुक गईं, जिससे उनके मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

COVID-19 ने यह स्पष्ट कर दिया कि शिक्षा केवल पाठ्यक्रम तक सीमित नहीं है, बल्कि यह बच्चों के सामाजिक और भावनात्मक विकास का भी आधार है। महामारी ने शिक्षा प्रणाली को अधिक लचीला, समावेशी और तकनीकी रूप से सक्षम बनाने की आवश्यकता को उजागर किया।

प्राथमिक शिक्षा की स्थिति – महामारी से पहले और बाद की तुलना

महामारी से पहले

महामारी से पहले प्राथमिक शिक्षा का ढांचा अपेक्षाकृत स्थिर था।

विद्यालय आधारित शिक्षा: बच्चों की पढ़ाई मुख्यतः कक्षा में होती थी, जहाँ शिक्षक और छात्र आमने-सामने संवाद करते थे।

सामाजिक सहभागिता: खेलकूद, समूह गतिविधियाँ और मित्रता बच्चों के सामाजिक-भावनात्मक विकास का हिस्सा थीं।

शैक्षिक असमानता: यद्यपि ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में संसाधनों की उपलब्धता में अंतर था, फिर भी विद्यालयों में प्रत्यक्ष उपस्थिति से बच्चों को सीखने का अवसर मिलता था।

शिक्षण पद्धति: पारंपरिक ब्लैकबोर्ड, किताबें और अभ्यास पर आधारित शिक्षण पद्धति प्रचलित थी।

महामारी के दौरान और बाद की स्थिति

COVID-19 ने इस व्यवस्था को पूरी तरह बदल दिया।

विद्यालय बंद: लंबे समय तक स्कूल बंद रहने से बच्चों की पढ़ाई बाधित हुई और सीखने की निरंतरता टूट गई।

ऑनलाइन शिक्षा का उदय: डिजिटल माध्यमों पर निर्भरता बढ़ी, लेकिन स्मार्टफोन, इंटरनेट और बिजली की कमी ने ग्रामीण और गरीब बच्चों को शिक्षा से वंचित कर दिया।

सीखने की हानि: पढ़ने और गणितीय कौशल में गिरावट देखी गई। छोटे बच्चों के लिए ऑनलाइन माध्यम से सीखना कठिन साबित हुआ।

सामाजिक-भावनात्मक प्रभाव: मित्रता, खेलकूद और सामूहिक गतिविधियाँ रुक गईं, जिससे बच्चों में अकेलापन, तनाव और चिंता बढ़ी।

शिक्षकों की चुनौतियाँ: शिक्षकों को अचानक डिजिटल प्लेटफॉर्म पर पढ़ाने की आवश्यकता पड़ी, जिसके लिए पर्याप्त प्रशिक्षण और संसाधन उपलब्ध नहीं थे।

नीतिगत प्रयास: सरकारों ने टीवी, रेडियो और वर्कशीट्स के माध्यम से शिक्षा पहुँचाने की कोशिश की, लेकिन इनका प्रभाव सीमित रहा।

महामारी से पहले प्राथमिक शिक्षा प्रत्यक्ष संवाद और सामाजिक सहभागिता पर आधारित थी, जबकि महामारी के बाद यह डिजिटल माध्यमों पर निर्भर हो गई। इससे शिक्षा की गुणवत्ता, बच्चों का सामाजिक विकास और मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित हुआ। महामारी ने यह स्पष्ट कर दिया कि शिक्षा प्रणाली को अधिक लचीला, समावेशी और तकनीकी रूप से सक्षम बनाने की आवश्यकता है।

सीखने की प्रक्रिया में बाधा और शैक्षिक परिणाम COVID-19 महामारी ने प्राथमिक शिक्षा में सीखने की प्रक्रिया को गहराई से प्रभावित किया। लंबे समय तक विद्यालय बंद रहने और ऑनलाइन शिक्षा पर निर्भरता ने बच्चों की शैक्षिक उपलब्धियों में उल्लेखनीय गिरावट पैदा की।

1. सीखने की प्रक्रिया में बाधा

पढ़ने की क्षमता में गिरावट: छोटे बच्चों की पढ़ने की आदत और भाषा कौशल कमजोर हुए।

गणितीय कौशल में कमी: गणना और समस्या-समाधान की क्षमता प्रभावित हुई।

निरंतरता का अभाव: नियमित अभ्यास और शिक्षक-छात्र संवाद टूटने से सीखने की गति धीमी हो गई।

ग्रामीण और वंचित वर्गों पर अधिक असर: डिजिटल संसाधनों की कमी के कारण इन बच्चों में सीखने की हानि अधिक रही।

2. शैक्षिक परिणाम

शैक्षिक असमानता बढ़ी: जिन बच्चों के पास डिजिटल उपकरण और इंटरनेट थे, वे आगे बढ़े; बाकी पीछे रह गए।
शिक्षण की गुणवत्ता प्रभावित: अचानक ऑनलाइन माध्यम अपनाने से शिक्षकों को कठिनाई हुई और शिक्षण की प्रभावशीलता कम हुई।

मूल्यांकन प्रणाली में बदलाव: परीक्षाएँ स्थगित हुईं या ऑनलाइन हुईं, जिससे बच्चों की वास्तविक क्षमता का आकलन कठिन हो गया।

सामाजिक-भावनात्मक परिणाम: बच्चों में आत्मविश्वास की कमी, तनाव और सामाजिक अलगाव देखा गया।

3. व्यापक प्रभाव

शिक्षा में असमानता और सीखने की हानि का असर बच्चों की आगे की शैक्षिक यात्रा पर भी पड़ा।

कई अध्ययनों ने संकेत दिया कि यदि सीखने की हानि को समय पर दूर न किया जाए तो यह बच्चों की उच्च शिक्षा और रोजगार क्षमता पर भी असर डाल सकती है।

सामाजिक-भावनात्मक प्रभाव

COVID-19 महामारी ने केवल शैक्षिक उपलब्धियों को ही नहीं, बल्कि बच्चों के सामाजिक और भावनात्मक विकास को भी गहराई से प्रभावित किया। प्राथमिक शिक्षा का एक बड़ा हिस्सा बच्चों के सामाजिक कौशल, मित्रता, खेलकूद और सामूहिक गतिविधियों से जुड़ा होता है। जब विद्यालय बंद हुए और बच्चे घरों तक सीमित हो गए, तब उनके सामाजिक-भावनात्मक जीवन में गंभीर बदलाव आए।

1. महामारी से पड़नेवाले सामाजिक प्रभाव

प्रत्यक्ष रूप में मित्रता और समूह गतिविधियों का अभाव - बच्चों को अपने साथियों से मिलने, खेलने और सामूहिक रूप से सीखने का अवसर नहीं मिला। इससे उनकी सामाजिक सहभागिता कमजोर हुई।

सामाजिक एकजुटता में कमी - संवाद, सहयोग और टीमवर्क जैसे कौशल विकसित होने की प्रक्रिया बाधित हुई।

डिजिटल संवाद पर निर्भरता - बच्चों की बातचीत और संपर्क ऑनलाइन माध्यमों तक सीमित हो गया, जो वास्तविक सामाजिक अनुभव का विकल्प नहीं बन सका।

2. महामारी से पड़नेवाले भावनात्मक प्रभाव

तनाव और चिंता - महामारी की अनिश्चितता और शिक्षा में व्यवधान ने बच्चों में तनाव और चिंता को बढ़ाया।

अकेलापन और अलगाव - लंबे समय तक घर में रहने से बच्चों में अकेलेपन की भावना बढ़ी।

आत्मविश्वास में कमी - सीखने की हानि और सामाजिक अलगाव ने बच्चों के आत्मविश्वास को प्रभावित किया।

मानसिक स्वास्थ्य पर असर - कई अध्ययनों ने संकेत दिया कि बच्चों में अवसाद और व्यवहार संबंधी समस्याएँ बढ़ीं।

3. महामारी से अभिभावकों और शिक्षकों की भूमिका में व्यापक बदलाव आया

अभिभावकों को बच्चों के साथ अधिक समय बिताना पड़ा, लेकिन सभी परिवारों में ऐसा संभव नहीं था। आर्थिक और सामाजिक दबाव ने अभिभावकों की क्षमता को सीमित किया।

शिक्षकों ने ऑनलाइन माध्यम से बच्चों को जोड़ने की कोशिश की, लेकिन छोटे बच्चों के लिए यह पर्याप्त नहीं रहा।

4. दीर्घकालिक परिणाम

सामाजिक-भावनात्मक विकास में आई कमी बच्चों की आगे की शिक्षा और जीवन कौशल पर असर डाल सकती है।

यदि समय पर हस्तक्षेप न किया जाए तो यह बच्चों की आत्म-पहचान, आत्मविश्वास और सामाजिक संबंधों को कमजोर कर सकता है।

5. सकारात्मक पहलू

हालाँकि चुनौतियाँ अधिक थीं, लेकिन कुछ सकारात्मक पहलू भी सामने आए।

बच्चों ने डिजिटल माध्यमों का उपयोग करना सीखा।

परिवारों में बच्चों के साथ समय बिताने की प्रवृत्ति बढ़ी।

कुछ बच्चों ने आत्मनिर्भरता और नई परिस्थितियों के अनुरूप ढलने की क्षमता विकसित की।

महामारी के दौरान शिक्षकों और अभिभावकों की भूमिका

1. शिक्षकों की भूमिका

डिजिटल शिक्षण अपनाना - शिक्षकों को अचानक ऑनलाइन प्लेटफॉर्म पर पढ़ाने की आवश्यकता पड़ी। यह उनके लिए नई चुनौती थी क्योंकि अधिकांश शिक्षक पारंपरिक पद्धति के आदी थे।

संसाधनों की कमी - कई शिक्षकों के पास पर्याप्त तकनीकी उपकरण और इंटरनेट सुविधा नहीं थी, फिर भी उन्होंने सीमित साधनों में बच्चों तक शिक्षा पहुँचाने का प्रयास किया।

नवाचार और लचीलापन - शिक्षकों ने वीडियो लेक्चर, वर्कशीट्स, व्हाट्सएप ग्रुप और फोन कॉल जैसे माध्यमों का उपयोग कर बच्चों को पढ़ाने की कोशिश की।

मानसिक सहयोग - शिक्षकों ने बच्चों को प्रेरित करने और उनके तनाव को कम करने के लिए संवाद बनाए रखा।

2. महामारी के दौरान अभिभावकों की भूमिका

शैक्षिक सहयोग - अभिभावकों को बच्चों की पढ़ाई में सक्रिय भागीदारी करनी पड़ी। छोटे बच्चों के लिए ऑनलाइन कक्षाओं में शामिल होना अभिभावकों की मदद के बिना संभव नहीं था।

समय प्रबंधन - अभिभावकों को अपने काम और बच्चों की पढ़ाई के बीच संतुलन बनाना पड़ा।

मानसिक स्वास्थ्य का ध्यान - अभिभावकों ने बच्चों के अकेलेपन और तनाव को कम करने के लिए उन्हें भावनात्मक सहयोग दिया।

संसाधनों की व्यवस्था - जिन परिवारों में आर्थिक क्षमता थी, उन्होंने बच्चों के लिए स्मार्टफोन, लैपटॉप और इंटरनेट की व्यवस्था की।

3. समाज के बीच अनेक चुनौतियाँ भी महामारी के दौरान सामने आईं

आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों के लिए बच्चों को डिजिटल शिक्षा उपलब्ध कराना कठिन रहा।

कई अभिभावक स्वयं शिक्षित नहीं थे, जिससे वे बच्चों की पढ़ाई में पर्याप्त सहयोग नहीं कर पाए।

शिक्षकों और अभिभावकों दोनों को नई परिस्थितियों में ढलने के लिए अतिरिक्त प्रयास करने पड़े।

4. महामारी के सकारात्मक कुछ पहलू भी हैं जो -

बच्चों और अभिभावकों के बीच संवाद और समय बढ़ा।

शिक्षकों ने नई तकनीकों को अपनाना सीखा।

शिक्षा में परिवार की भागीदारी बढ़ी, जिससे बच्चों को व्यक्तिगत सहयोग मिला।

COVID-19 और शिक्षा प्रणाली पर सामान्य प्रभाव

COVID-19 महामारी ने शिक्षा प्रणाली को वैश्विक स्तर पर गहराई से प्रभावित किया। विद्यालयों के बंद होने से बच्चों की सीखने की निरंतरता टूट गई और शिक्षा का पारंपरिक ढांचा अचानक डिजिटल माध्यमों पर निर्भर हो गया। प्राथमिक शिक्षा, जो बच्चों के बौद्धिक और सामाजिक विकास की नींव है, सबसे अधिक प्रभावित हुई।

निष्कर्ष - COVID-19 ने शिक्षा प्रणाली की कमजोरियों को उजागर किया। प्राथमिक शिक्षा में सीखने की हानि, डिजिटल असमानता और सामाजिक-भावनात्मक चुनौतियाँ स्पष्ट रूप से सामने आईं। महामारी ने यह दिखाया कि शिक्षा प्रणाली को लचीला, समावेशी और तकनीकी रूप से सक्षम बनाना आवश्यक है। COVID-19 महामारी ने शिक्षा प्रणाली को वैश्विक स्तर पर गहराई से प्रभावित किया। विद्यालयों के बंद होने से बच्चों की सीखने की निरंतरता टूट गई और शिक्षा का पारंपरिक ढांचा अचानक डिजिटल माध्यमों पर निर्भर हो गया। प्राथमिक शिक्षा, जो बच्चों के बौद्धिक और सामाजिक विकास की नींव है, सबसे अधिक प्रभावित हुई।

सन्दर्भ सूची

- परवीन, नाज. (2020, सितम्बर 23). *कोरोना महामारी और शिक्षा: शिक्षा को बचाने की चुनौती समाज के सामने अगला संकट*. अमर उजाला.
- भारतवर्ष, TV9. (2021, जुलाई 21). *देश के स्कूल-कॉलेज समेत पूरे एजुकेशन सिस्टम पर कोरोना महामारी से कितना पड़ा असर?* TV9 भारतवर्ष.
- TESF. (2020). *कोविड-19 महामारी का शिक्षा, आजीविका और स्वास्थ्य पर प्रभाव: शोध रिपोर्ट (हिंदी अनुवाद)*. TEF रिसेर्स लाइब्रेरी.
- सिंह, आर. (2021). *कोविड-19 और प्राथमिक शिक्षा: चुनौतियाँ एवं अवसर*. शिक्षा विमर्श, 15(2), 45-52.
- शर्मा, अ. (2020). *ऑनलाइन शिक्षा और ग्रामीण भारत में प्राथमिक शिक्षा की स्थिति*. भारतीय शिक्षा जर्नल, 12(3), 67-74.
- गुप्ता, पी. (2021). *कोविड-19 महामारी में बच्चों की मानसिक स्थिति और शिक्षा पर प्रभाव*. मनोविज्ञान पत्रिका, 9(1), 88-95.
- Education Endowment Foundation. (2022). *The impact of COVID-19 on learning: A review of the evidence*. Education Endowment Foundation.
- Sánchez Amate, J. J., Luque de la Rosa, A., Gutiérrez Cáceres, R., & Vargas Serrano, A. (2021). *The effects of COVID-19 in the learning process of primary school students: A systematic review*. Education Sciences, 11(10), 654. <https://doi.org/10.3390/educsci11100654>
- Sanz, I., & Tena, J. D. (2023). *The impact of the COVID-19 pandemic on education learning*. In *Addressing inequities in modern educational assessment* (pp. 15–36). Springer.
- UNESCO. (2020). *COVID-19 educational disruption and response*. UNESCO Reports.
- United Nations Children's Fund (UNICEF). (2021). *COVID-19 and school closures: Impact on children's learning and wellbeing*. UNICEF Policy Brief.
- World Bank. (2020). *The COVID-19 pandemic: Shocks to education and policy responses*. World Bank Education Global Practice.



भारत नेपाल संबंध का ऐतिहासिक परिपेक्ष्य का एक संक्षिप्त अध्ययन

अजित सिंह*

1.1 भारत नेपाल का ऐतिहासिक घनिष्ठता

भौगोलिक सामाजिक सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक तौर पर भारत और नेपाल काफी घनिष्ठता के साथ जुड़े हुए। आदिकाल से ही भारत नेपाल के बीच सांस्कृतिक रिश्ता कायम रहा। पशुपति नाथ का मन्दिर जिसमें दक्षिण भारत के चार पुजारी रहते हैं दोनों के बीच अत्यन्त कीमती सांस्कृतिक रिश्ते के रूप में आज भी जगमगा रहा। नेपाल के राजा को पुरी रामेश्वरम के मंदिर में विशिष्ट सुविधाएँ प्राप्त हैं। भगवान बुद्ध का जन्म नेपाल के लुम्बिनी में हुआ था किन्तु सारनाथ जहाँ उन्होंने अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया था बौद्ध अभिरुचि का पवित्रतम धार्मिक स्थल माना जाता। नेपाल सभी शासकीय एवं गैरशासकीय प्रयोजनों के लिए विक्रम संवत् का प्रयोग करता। अधिकांश भारतीय भाषाओं की तरह ही नेपाली भाषा की उत्पत्ति भी संस्कृत से हुई और वह देवनागरी लिपि में लिखी जाती। भारत के कुछ हिस्सों में बोले जाने के कारण इसे भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में भी शामिल किया गया। मध्य हिमालय के दक्षिणी ढलानों पर स्थित नेपाल भारत के गंगा के मैदानों को चीन के बंजर तिब्बती पठार से अलग करता। नेपाल की सामरिक स्थिति भारत तथा चीन दोनों के लिए ही महत्वपूर्ण। विशिष्ट स्थिति दोनों के लिए अपरिहार्य बना देती कि वे इसके मामलों में सामान्य से अधिक रुचि लें।

अभेद्य हिमालय क्षेत्र में स्थित होने तथा दो शक्तिशाली राष्ट्रों के बीच चारों ओर से घिरे होने के कारणों ने उसे लगभग अलग-थलग पड़ जाने की नीति के लिए निर्देशित किया जिस पर नेपाल 1950 तक चलता रहा। भौतिक अलगाव ने नेपालियों को बाहरी प्रभावों के प्रति शंकालु बना दिया। नेपाल अनेक भौतिक विविधताओं वाली भूमि। नेपाल का एक बड़ा हिस्सा हिमालय के अत्यधिक ठंडे मौसम वाले क्षेत्र में आता। नेपाल का भीतरी तथा सबसे बड़ा भूभाग विशाल हिमालय तथा तराई को घेरने वाली पहाड़ियों के बीच गहराई में लगभग 50 मील तक फैली जटिल पर्वत मालाओं के बीच बिखरा। तीसरा पर्यावरण की दृष्टि से नितान्त भिन्न तराई क्षेत्र जो पूरी तरह उष्ण कटिबंधी जलवायु में स्थित। पर्यावरणीय दृष्टि से नेपाल उपर्युक्त तीनों एक-दूसरे से भिन्न क्षेत्रों से मिलकर बना।

भौतिक विविधता ने नेपाली समाज में जातीय एवं सांस्कृतिक विविधता भी पैदा की हैं। उत्तर में मंगोल मूल की तथा दक्षिण में भारतीय आर्यजातियाँ हैं। जातीय रूप से भारतीय आर्य समूह नेपाल के इतिहास में सबसे बड़ा एवं प्रतिष्ठित समूह रहा। शासक घराने इसी समूह से संबद्ध रहे। मंगोलियाई लोग तिब्बत से आकर नेपाल में बसे थे। तमाम विभिन्नताओं के बावजूद लोगों का सांस्कृतिक रुझान हिन्दू धर्म की तरफ ही रहा जो कि 18 मई 2006 को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित होने से पूर्व नेपाल का राज्य धर्म भी रहा। 1991 के एक सर्वेक्षण के अनुसार 5 प्रतिशत नेपालियों ने अपनी पहचान हिन्दू बताई थी। इसके अतिरिक्त 5-3 प्रतिशत बौद्ध और 2-7 प्रतिशत मुसलमान थे।

नेपाल की विदेश नीति यद्यपि जातीय अथवा नस्लीय रुझानों से विमुख रही किन्तु सामाजिक-आर्थिक कारणों से तराई क्षेत्र के लोगों के अनेक तरह के दबाव आते रहते हैं। नेपाल की जनता के सांस्कृतिक जीवन पर दूरगामी भारतीय प्रभावों को देखते हुए मूल भारतीय संस्कृति में विलीन हो जाने के खतरे में एक पृथक

* प्रवक्ता इतिहास, राजकीय आश्रम पद्धति इंटर कालेज, लखीमपुर खीरी

पहचान पर बल देने से नेपाल की प्रवृत्ति को बढ़ावा । इसलिए वे भारतीयों से अपनी पृथक पहचान और स्वतंत्र अस्तित्व पर समय-समय पर जोर देते रहते हैं।

नेपाल भारतीय उपमहाद्वीप में स्थित एक स्थलरुद्ध देश । दो एशियाई परमाणु शक्तियों—लोकतांत्रिक भारत और साम्यवादी चीन के बीच स्थिति होने के कारण इसका रणनीतिक रूप से महत्व अत्यधिक बढ़ जाता । नेपाल का कुल क्षेत्रफल 1 45 302 वर्ग किलोमीटर । यह 80° 4 एवं 88° 12 पूर्वी देशांतर तथा 26° 22 एवं 30° 27 उत्तरी अक्षांश के मध्य स्थित । पूर्व से पश्चिम की तरफ इसकी औसत लम्बाई 800 किलोमीटर तथा उत्तर से दक्षिण की तरफ औसत चौड़ाई 175 किलोमीटर । इसकी जनसंख्या 2-4 करोड़ । जनसंख्या एवं क्षेत्रफल की दृष्टि से नेपाल विश्व के छोटे-छोटे देशों में से एक । भारत इससे क्षेत्रफल में बाईस गुना तथा जनसंख्या में पैंतालीस गुना बड़ा जबकि चीन क्षेत्रफल में पचहत्तर गुना तथा जनसंख्या में सात गुने से अधिक बड़ा ।² नेपाल का ऐतिहासिक युग लगभग चौथी शती ई० से आरम्भ होता । इसके पूर्व यहाँ इतिहास नेपाली वंशावलियों में प्राप्त विवरणों तथा विभिन्न आख्यानों के आधार पर निर्धारित होता ।

भारतीय ग्रंथों में वर्णित आख्यानों के आधार पर इस क्षेत्र में अनेक जनजातियाँ निवास करती थीं सांस्कृतिक दृष्टि से अविकसित थी । इन जातियों को सामूहिक रूप से किरात कहा गया । नेपाली वंशावलियों के अनुसार यहाँ का इतिहास उस समय से आरम्भ होता जब यह उपत्यका जलमग्न थी । उस समय इसको नागहृद कहा जाता था । बौद्ध वंशावलियों के अनुसार त्रेतायुग में सप्त प्राचीर के पार स्थित महाचीन से आने वाले वोधिसत्व मंजुश्री ने अपने चन्द्रहास तलवार पर्वत को काटकर एक मार्ग बनाया और झील को खाली कर उसे वर्तमान घाटी का रूप दिया । अनुश्रुतियों के अनुसार मंजुश्री ने नेपाल में एक गौड़ नरेश को राज्य करने के लिए नियुक्त किया जिसके वंशज वहाँ सुदीर्घ काल तक शासन करते रहे । उनके भारत और सिंहल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध थे । शैव वंशावलियों के अनुसार नेपाल की घाटी दानासुर नामक एक असुर द्वारा एक बान पुनः जलमग्न कर दी गई थी । कृष्ण ने उस असुर का वध किया और घाटी को सुखाया । इसके बाध नेपाल पर नेमि अथवा नेमुनि द्वारा स्थापित गोपाल वंश ने शासन किया और तदुपरान्त अहीर जातीय राजाओं ने राज्य किया । अहीरों के बाद किरात वंश ने नेपाल पर अधिकार किया था । इनके २६ या २६ राजा नेपाल पर बहुत दिनों तक शासन करते रहे ।

इस प्रकार नेपाल में आदिकाल से ऐतिहासिक काल तक नेपाल के कुछ आख्यानों तथा अनुश्रुतिजन्य विवरणों के अतिरिक्त किसी प्रकार के सांस्कृतिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता । भारतीय ग्रंथों में जो संकेत प्राप्त होते हैं उनके आधार पर कुछ प्रागैतिहासिक सम्बन्धों का अनुमान लगाया सकता ।³

प्रागैतिहासिक काल में मोहन-जो-दड़ो के विशाल जनसंकुल में मंगोल तत्व प्राप्त होते हैं । वाः से उपलब्ध मूर्तियों पर पंखे के आकार की एक शिरोभूषा का ज्ञान होता । उसकी तुलना नेपाल तथा असम प्रदेश में प्रचलित किरात जाति की शिरोभूषा से की जाती । राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार ऋग्वेद में उल्लिखित आर्यों का प्रमुख प्रतिद्वन्दी शम्बर पहाड़ी लोगो का नेता था । इस शस्त्र के सो पर्वतीय दुर्गों के उल्लेख से इस सम्भावना की पुष्टि होती । इससे ज्ञात होता कि हिमालय क पर्वतीय जातियों का सम्बन्ध आर्यों से था । वे उनसे द्वेष रखते थे तथा उन पर विजय पाने के लिये सदा तत्पर रहते थे।

नेपाल में रहने वाले किरातों से आर्यों के संघर्ष होते रहे होंगे । फूशे के अनुसार आर्यों के बढ़ते समूह में सार्थवाहों की रक्षा करते हुए आगे योद्धा चलते थे जिससे हजार जाति में रहने वाले किरात उनपर हमला न कर दें । किरातों की अपनी सेना भी होती थी । ये अपने पास सदा धनुष-वण रखते थे और अर्धनगनावस्था में कमर में मोर पंख लगाये सर्वत्र घूमा करते थे । इनकी वीरता से प्रभावित होकर ही प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भगदत्त ने अपनी सेना में इन्हें भरती किया था ।

महाभारत से ज्ञात होता कि इनकी सेना एक कर्णिकार के वन के समान दिखाई देती थी। इन किरातों को उनके प वर्ण के कारण रामायण में हेमांभ और महाभारत में काञ्चनद्रुम सन्निभ कहा गया। इससे ज्ञात होता कि किरात सैनिक आर्यावर्त के युद्धों में सैनिक के रूप में सम्मिलित होते थे। इनकी वीरत की प्रशंसा आर्यजन अपनी गाथाओं में सदा स्मरण करते थे।

ऐतिहासिक काल के आरम्भ से पूर्व नेपाल उपत्यका में रहने वाली किरात जाति पूर्णतया असभ्य तर हिंस्र थी। वह अपनी जीविका की व्यवस्था जंगली फल-मूल आदि तथा शिकारी पशुओं के मांस द्वारा करती थी। इस प्रदेश में उपलब्ध अनेक मूल्यवान पदार्थों का ये संग्रह करते थे। इन पदार्थों में गजचम गजदन्त मुक्ता आदि प्रमुख थे। वे या तो भारत से जाने वाले व्यापारियों को इन्हें बेच देते थे या उन्हें राजाओं को भेंट में समर्पित करते थे। कालिदास के अनुसार इनकी स्त्रियाँ राजपरिवार यः राजदरबार में चैवर डुलाने का कार्य करती थी।⁴

महाभारत से ज्ञात होता कि राजसूय यज्ञ किरातों ने युद्धिष्ठिर को चमड़े चंदन अगर तथा सोना आदि द्रव्य भेंट किये थे। इससे ज्ञात होता कि ऐतिहासिक काल के पूर्व भी नेपाल के शासकों का सम्बन्ध भारतीय राजाओं से था। वे बड़े सम्मान पूर्वक अपने देश की वस्तु भेंट में प्रस्तुत करते थे।⁵

1.2 सांस्कृतिक सम्बन्ध

सांस्कृतिक दृष्टि से अविकसित होने के कारण नेपाल के किरात लोग आर्यों के समक्ष सांस्कृतिक सम्बन्धों में अधिक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकते थे।⁶ उन्होंने अधिकांशतः आर्यों की संस्कृति को अपन्न लिया फिर भी आर्यों के सामाजिक जीवन पर इन आदिम जातियों का कुछ प्रभाव देखने को मिलता। इनका समाज मातृवंशीय मातृसत्तात्मक या मातृस्थानीय था। वैदिक जन भले ही पितृमूलक परिवार पर निर्भर थे- किन्तु माता से अनेक बार अपना गौत्र खोजना उनके मातृमूलक समाज की याद दिलाता। किरातों की एक अन्य उल्लेखनीय सामाजिक परम्परा बहुभर्तृता की परम्परा थी।

महाभारत में द्रौपदी के पाँच पतियों उल्लेख मिलता। सम्भवतः यह घटना इतनी प्रसिद्ध थी की महाभारतकार को इसका उल्लेख करना पड़ा। किन्तु उस अतीत काल में भी यह प्रथा निन्दित समझी जाती थी। पाँचो पाण्डवों के द्वारा द्रौपदी से एक साथ विवाह करने के प्रस्ताव को युधिष्ठिर से सुनकर धृष्टद्युम्न आश्चर्य से चकित हो गये और धर्मराज को इस कार्य से विरत करने का प्रयास करते हुए उन्होंने कहा कि यह प्रथा लोक तथा धर्म दोनों के विरुद्ध तुम्हारी ऐसी बुद्धि क्यों हो गई।⁷

अतः इस अधर्म के कार्य को मल करो। किन्तु महाभारत से ज्ञात होना कि युद्धिष्ठिर ने इस प्रथा को अपना पूर्व परम्परागत धर्म बताया था। इससे यह संकेत मिलता कि किरात आदि जनजातियों में प्रचलित प्रथा का प्रभाव आर्यों के सामाजिक जीवन पर पड़ा था। बुद्धिष्ठिः ने इस प्राचीन परम्परा के समर्थन में जटिला गौतमी तथा वार्षी का उदाहरण दिया जिनके क्रमशः सात तथा दस पति थे। अतः महाभारत के समय में भी इस प्रथा की सत्ता विद्यमान थी। परवर्ती धर्मशास्त्रकारों ने द्रौपदी के बहुपति विवाह को घृणित समझकर उसको अलंकारिक रीति से समझाने य बड़ा प्रयत्न किया। कुमारिल भट्ट के आधार पर डा० जौली ने लिखा कि द्रौपदी अनेक या पाँच थी परन्तु आकार प्रकार बिलकुल एक जैसा था अतः ग्रन्थ कर्ता ने आलंकारिक रीति से एक द्रौपदी पदा ही वर्णन किया। भगवान लाल इन्द्र जी के मतानुसार यह प्रथा कुमायूँ में तमसा और यमुना नह के बीच कलसी नामक स्थान के आस पास ब्राह्मण राजपूत तथा शूद्रों में पायी जाती। इस प्रकार यह प्राचीन परम्परा किसी न किसी प्रकार भारतीय समाज को प्रभावित किया जिसका प्रचलन आ भी देहरादून जिले के जौनसार भावर में निवास करने वाली जाति में विद्यमान नेपाली पुरातत्व से किसी प्रकार की सहायता न मिलने के कारण नेपाल के प्रागैतिहासिक रथानों तथा उनकी सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी नहीं हो पाती। केवल साहित्यिक ग्रन्थों में कुछ संकेत प्राप्त होने हैं। इनसे ज्ञात होता कि आदिम काल से ही इस क्षेत्र में भारतीयों ने

अपना निवास तीर्थस्थान देवस्थान आदि स्थापित किये थे। नेपाल का पशुपतिनाथ का मंदिर विशेष प्रसिद्ध। ऐसा कहा गया कि गंगोपम वाम्गती के मनोहर तट पर महारुद्र उद्भूत हुए जो श्री पशुपतिनाथ के नाम से विख्यात हुए⁹

इसी प्रकार पशुपतिनाथ के साथ-साथ जगन्माता गुहमयेश्वरी और वत्सला की स्कन्दपुराण में बड़ी महिमा गायी गई। इस प्रदेश के देवपाटन लुम्बिनी भक्तपुर जनकपुर आदि ऐसे स्थान जो ऐतिहासिक काल से पूर्व के सम्बन्धों को दर्शाते हैं। इन स्थानों का विकास नेपाल-भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों में विशेष सहायक रहा।¹⁰ नेपाल में लिच्छवि शासन के पूर्व भारत के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों के कुछ विवरण प्राप्त होने हैं। ये साहित्यिक साक्ष्यों तथा अनुश्रुति जन्य विवरणों में सुरक्षित। लिच्छवियों के अभ्युदय के पृथक् नेपाल में किरात राजाओं का शासन था। वंशावलियों में किरातों के 26 या 26 राजाओं की सूची प्राप्त होती। इन राजाओं का शासन काल 1198-1978 अथवा 1589 वर्ष बताया गया। किन्तु ऐसा लगता कि किरात नरेशों के राज्यकाल वंशावलियों में बहुत बढ़ा चढ़ाकर बताये गये हैं।

किरात राजाओं के राज्यकाल का निर्धारण उनके बाद आने वाले लिच्छवि राजाओं के राज्यकाल पर निर्भर जिनकी निश्चित तिथियाँ अभिलेखों द्वारा सिद्ध होती सूर्यवंश में उत्पन्न लिच्छवि राजा प्रथम मानदेव ने लगभग 460 से 505 ई० तक शासन किया था। वंशावलियों में उसके पूर्व और किरातों के बाद 29 राजाओं के नाम प्राप्त होते हैं। अतः एक पीढ़ी का औसत शासन काल 20 वर्ष मानने पर किरात वंश का अंत 40 ई० पू० में रखना होगा। किरात वंश में प्राप्त 26 राजाओं के नामों को यदि सही माना जाये तो इनका राज्य काल लगभग 580 (26 4020) वर्ष का होगा। इसलि किरात वंश की स्थापना लगभग सातवीं शती ई० पू० के अन्तिम पाद में (580+40 ई०पू०) 620 पू० के आसपास हुई होगी। गणना के आधार पर किरात राजा जितेदोस्ती का शासनकाल 500 ई० पू० के लगभग होना चाहिए। वंशावलियों के अनुसार इस किरात राजा के शासन काल में गौतम बुद्ध नेपाल गये थे।

नेपाल में किरात शासन का युग भारत में मगध साम्राज्य का युग था। भारत में मगध साम्राज्य की स्थापना छठी शती ई० पू० के मध्य में बिम्बिसार ने की थी। उसके बाद उसका विस्तार उसके पुत्र अजातशत्रु एवं शैशुनाग तथा नन्द वंशीय राजाओं ने किया। नन्दों के बाद मगध साम्राज्य को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने वाले मौर्य राजा थे जिनका साम्राज्य तत्कालीन विश्व के साम्राज्यों में सबसे विस्तृत था। मौर्यों के बाद शुंगों ने मगध की प्रतिष्ठा बचायी किन्तु विदेशियों के निरन्तर आक्रमणों के कारण के असफल रहे। शुंगों के बाद कर्णों के समय यह साम्राज्य समाप्त हो गया और भारत के अधिकांश भू-भागों पर विदेशियों के आधिकार हो गये।

भारत में मगध साम्राज्य के समकालीन नेपाल के किरात राजाओं का राज्य चलता रहा किन्तु मौर्यों के काल में यह मगध साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था। इस सन्दर्भ में नेपाली वंशावलियों का कथन कि मौर्य सम्राट अशोक ने नेपाल की यात्रा की थी। वहाँ उन्होंने प्रत्येक धर्मस्थल के दर्शन किये और पवित्र नदियों में स्नान किये। अशोक ने ललितपाटन नगर की स्थापना की और पाँच स्तूप का निर्माण कराया। अपनी पुत्री चारुमती के यह निश्चय करने पर कि वह नेपाल में ही रहेगी- अशोक ने उसका विवाह वहाँ के देउपाल नामक एक क्षत्रिय कुमार से कर दिया। अशोक के लौटने के बाद चारुमती और देउपाल ने देउपाटन की स्थापना की और मरने से पूर्व एक-एक बिहार चनवाने का निश्चय किया। यह घटना चौदहवें किरात राजा स्थंकु के शासन काल में हुयी।

निष्कर्ष

नेपाली वंशावलियों में वर्णित अशोक की नेपाल यात्रा हुई थी या नहीं इस पर विद्वानों में विवाद। डा० दिल्लीरमण रेग्मी ने इस बात का जोरदार खण्डन किया कि सम्राट अशोक नेपाल गये थे। उनके अनुसार पाली के ऐतिहासिक ग्रन्थ महावंश और दीपवंश में सम्राट अशोक के जीवन चरित की कहानी में कहीं नेपाल- का

उल्लेख नहीं। मोहन का कहना कि वंशावली में उल्लिखित अशोक का नाम काल्पनिक क्योंकि अशोक के अभिलेखों और शिलालेखों में कहीं उसकी पुत्री का उल्लेख नां मिलता। इसके विपरीत भण्डारी आदि विद्वानों का कथन कि चौदहवें किरात राजा स्यूंकी के शसनका में धर्मिक भावनावश सम्राट अशोक नेपाल गये थे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

राहुल सांस्कृत्यायन ऋग्वैदिक आर्य पृ० 81-82

ऋग्वेद 2/14/6

फूशे ल वैम्प रुत द ला एद् भाग 2 पृ० 984-985

श्री राम गोयल प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास पृ० 16

रेग्मी एंशिण्ट नेपाल पृ० 56

पूर्णिमा 5 अंक 9 पृ० 2 पर उद्धृत

विजय बहादुर राव उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति पृ० 18

Karan P- P- and Jenkins W- M- The Himalayan Kingdoms : Bhutan Sikkim and Nepal (Princeton New Jersey- 1963)

Khanna D- D- Strategic Environment In South Asia During the 1980s (Ganganagar West Bengal 1979)

Khanal Yadu Nath Background of Nepals Foreign Policy (Kathmandu 1964)

Nepal Transition From Isolationism (Kathmandu 1977)

Joshi Bhuwanlal and Rose Leo E- Democratic Innovations in-Nepal : A Case study of Political Acculturation- (Berkeley 1966)



वैश्वीकरण का प्रभाव और भ्रष्टाचार की समस्या : एक विश्लेषण

दीपेश कुमार*
डॉ. (प्रो.) दिनेश प्रसाद सिन्हा**

सारांश (Abstract)

वैश्वीकरण आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसने विश्व के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक ढाँचे को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। भारत जैसे विकासशील देश में वैश्वीकरण का प्रभाव विशेष रूप से 1991 के आर्थिक सुधारों के बाद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों को अपनाने के परिणामस्वरूप भारत की अर्थव्यवस्था वैश्विक बाजार से जुड़ गई, जिससे विदेशी निवेश, तकनीकी विकास, व्यापारिक विस्तार तथा आर्थिक विकास के नए अवसर उत्पन्न हुए। हालाँकि, वैश्वीकरण के सकारात्मक प्रभावों के साथ-साथ कुछ चुनौतियाँ भी सामने आईं, जिनमें भ्रष्टाचार की समस्या प्रमुख है। वैश्वीकरण के कारण प्रशासनिक और आर्थिक गतिविधियों में व्यापक परिवर्तन हुए, लेकिन कई क्षेत्रों में पारदर्शिता की कमी, नीतिगत कमजोरियाँ, प्रभावशाली वर्गों का हस्तक्षेप तथा संसाधनों के असमान वितरण ने भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया। इससे न केवल आर्थिक असमानता बढ़ी, बल्कि सामाजिक न्याय और सुशासन की प्रक्रिया भी प्रभावित हुई।

यह शोध लेख भारत के संदर्भ में वैश्वीकरण और भ्रष्टाचार के बीच संबंधों का विश्लेषण करता है। इसमें भ्रष्टाचार के स्वरूप, उसके प्रमुख कारणों तथा भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा की गई है। साथ ही, अध्ययन में पारदर्शिता, जवाबदेही, सुशासन तथा प्रभावी नीतिगत सुधारों के माध्यम से भ्रष्टाचार को नियंत्रित करने के संभावित उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है।

मुख्य शब्द (Keywords) : वैश्वीकरण, उदारीकरण, भ्रष्टाचार, सामाजिक और सांस्कृतिक

प्रस्तावना

वैश्वीकरण के दौरान भ्रष्टाचार का स्वरूप पारंपरिक रिश्वतखोरी से बढ़कर अधिक संगठित और जटिल हो गया है। विदेशी निवेश, अंतरराष्ट्रीय व्यापार, बड़े बुनियादी ढाँचा परियोजनाओं और सार्वजनिक-निजी भागीदारी में नए प्रकार के भ्रष्टाचार का उदय हुआ है। निजी हितों का प्रभाव नीति निर्धारण और विनियमन प्रक्रियाओं में बढ़ गया है, जिससे 'नीति-आधारित भ्रष्टाचार' को बढ़ावा मिला है। इस प्रकार, वैश्वीकरण ने नई चुनौतियाँ और अवसर दोनों प्रदान किए हैं।

भारत में वैश्वीकरण और भ्रष्टाचार के बीच संबंध सामाजिक और आर्थिक असमानताओं की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। आर्थिक विकास का लाभ सभी वर्गों तक समान रूप से नहीं पहुँचा है, जिससे कमजोर वर्गों को सरकारी सेवाओं और संसाधनों के लिए भ्रष्ट तरीकों पर निर्भर रहना पड़ा है।¹ वहीं, आर्थिक रूप से सशक्त वर्गों ने अपने प्रभाव का उपयोग करके नीति निर्माण को प्रभावित किया। इस तरह, भ्रष्टाचार ने न केवल आर्थिक विकास में बाधा डाली है, बल्कि सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों को भी कमजोर किया है।

हालाँकि, यह भी सच है कि वैश्वीकरण ने भ्रष्टाचार से लड़ने का कुछ सकारात्मक अवसर भी प्रदान किए हैं। जानकारी प्रौद्योगिकी का विकास, डिजिटल प्रशासन, ई-गवर्नेंस और वैश्विक स्तर पर पारदर्शिता के

* पी.जी. राजनीति विज्ञान विभाग, म.वि.वि. बोधगया, बिहार, 824234
(deepworld700@gmail.com)

** पी.जी. राजनीति विज्ञान विभाग, म.वि.वि. बोधगया, बिहार, 824234

मानकों ने भ्रष्टाचार को उजागर करने और नियंत्रित करने में मदद की है।² सूचना का अधिकार, डिजिटल भुगतान प्रणाली और ऑनलाइन सेवाओं का विकास इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं, जो वैश्वीकरण से उत्पन्न तकनीकी प्रवाह का परिणाम हैं।

इसलिए, वैश्वीकरण और भारत में भ्रष्टाचार के संबंध को केवल नकारात्मक या सकारात्मक दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए। यह एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें अवसर और चुनौतियाँ दोनों मौजूद हैं। भ्रष्टाचार का समाधान केवल आर्थिक नीतियों से नहीं, बल्कि एक मजबूत संस्थागत ढाँचे, पारदर्शी शासन, प्रभावी कानून-प्रवर्तन, नैतिक मूल्यों के विकास और जनभागीदारी के माध्यम से संभव है।³ इस शोध का निष्कर्ष है कि यदि वैश्वीकरण की प्रक्रिया को सामाजिक न्याय, समानता और जवाबदेही के सिद्धांतों के साथ जोड़ा जाए, तो भारत में भ्रष्टाचार को कम करने और समावेशी विकास की दिशा में सार्थक प्रगति की जा सकती है।

इक्कीसवीं शताब्दी को वैश्वीकरण का युग माना जा सकता है, जिसमें विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं, समाजों, राजनीति और संस्कृतियों के बीच गहरा संबंध विकसित हुआ है। वैश्वीकरण ने राष्ट्रीय सीमाओं के महत्व को कम करते हुए पूँजी, प्रौद्योगिकी, जानकारी, वस्तुओं और सेवाओं की स्वतंत्र आवाजाही को बढ़ावा दिया है। इसके परिणामस्वरूप, दुनिया एक 'वैश्विक गाँव' के रूप में विकसित हो गई है।⁴ भारत जैसे विकासशील देश के लिए वैश्वीकरण सिर्फ एक आर्थिक नीति नहीं, बल्कि एक व्यापक संरचनात्मक बदलाव की प्रक्रिया है, जिसने देश की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया है।

भारत में वैश्वीकरण की औपचारिक शुरुआत 1991 में आर्थिक सुधारों के साथ हुई, जब देश ने उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों को अपनाया। इन नीतियों का उद्देश्य आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना, वैश्विक प्रतिस्पर्धा में भारत की भागीदारी को सुनिश्चित करना और विदेशी निवेश और तकनीकी नवाचार को आकर्षित करना था। परिणामस्वरूप, भारत की आर्थिक विकास दर में वृद्धि हुई, सेवा और सूचना प्रौद्योगिकी जैसे क्षेत्रों का तेजी से विकास हुआ, और भारत विश्व अर्थव्यवस्था में एक महत्वपूर्ण भागीदार के रूप में उभरा। हालाँकि, इस विकास के साथ कई संरचनात्मक और संस्थागत चुनौतियाँ भी सामने आईं, जिनमें भ्रष्टाचार एक गंभीर समस्या बनकर उभरा।

भ्रष्टाचार भारतीय समाज और शासन में एक पुरानी समस्या है, जो प्रशासनिक अक्षमता, शक्ति के केंद्रीकरण और सामाजिक असमानताओं से जुड़ी रही है।⁵ औपनिवेशिक शासन के दौरान स्थापित नौकरशाही में भ्रष्टाचार के लक्षण स्वतंत्रता के बाद भी बने रहे। स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के बावजूद, प्रशासनिक जटिलताओं, संसाधनों की कमी और राजनीतिक हस्तक्षेप ने भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया। वैश्वीकरण से पूर्व, भ्रष्टाचार निचले और मध्य स्तरों तक ही सीमित था, लेकिन वैश्वीकरण के बाद यह अधिक व्यापक, संगठित और उच्च स्तर पर पहुंच गया।

वैश्वीकरण ने राज्य की भूमिका को भी नई परिभाषा दी है। पहले, राज्य का प्रमुख कार्य उत्पादन, वितरण और नियंत्रण में था, जबकि अब वह एक नियामक और सहायक के रूप में कार्य कर रहा है। निजी क्षेत्र और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की बढ़ती भागीदारी ने नीति-निर्माण और आर्थिक गतिविधियों में नए शक्ति संतुलन को जन्म दिया। इस बदलाव ने दक्षता और प्रतिस्पर्धा को बढ़ाया है, लेकिन नीति-निर्माण में पारदर्शिता की कमी, कॉर्पोरेट प्रभाव और हितों के टकराव जैसी समस्याएँ भी उत्पन्न की हैं।⁶ इसलिए, भ्रष्टाचार अब केवल रिश्वतखोरी तक सीमित नहीं रह गया, बल्कि 'नीति-आधारित भ्रष्टाचार' और 'संरचनात्मक भ्रष्टाचार' के रूप में भी सामने आने लगा है।

भारत में वैश्वीकरण और भ्रष्टाचार के बीच संबंध को सामाजिक असमानता के संदर्भ में देखना भी आवश्यक है। वैश्वीकरण से उत्पन्न आर्थिक विकास का लाभ सभी वर्गों तक समान रूप से नहीं पहुँचा; शहरी क्षेत्रों और संगठित क्षेत्र को अधिक लाभ हुआ, जबकि ग्रामीण और असंगठित वर्ग अपेक्षाकृत वंचित रह गए। इस

असमानता ने सामाजिक असंतोष को बढ़ाया और कमजोर वर्गों को बुनियादी सेवाओं के लिए भ्रष्ट तंत्र पर निर्भर रहने को मजबूर किया। इसी तरह, आर्थिक और राजनीतिक रूप से सशक्त वर्गों ने अपने हितों की सुरक्षा के लिए सत्ता और प्रशासन पर प्रभाव डालना शुरू किया, जिससे भ्रष्टाचार को संरचनात्मक समर्थन मिला।

राजनीतिक दृष्टिकोण से भी, वैश्वीकरण ने भ्रष्टाचार के स्वरूप को प्रभावित किया है। चुनावी प्रक्रियाओं में खर्च में वृद्धि, राजनीतिक दलों के वित्तपोषण की पारदर्शिता की कमी और सत्ता संघर्ष ने भ्रष्टाचार को राजनीतिक रणनीति का हिस्सा बना दिया है। वैश्वीकरण ने राजनीति और बाजार के बीच की दूरी को कम किया है, जिससे कॉर्पोरेट हितों और राजनीतिक निर्णयों के बीच गहरा संबंध स्थापित हुआ है। यह लोकतांत्रिक जवाबदेही और पारदर्शिता के लिए चुनौती बन गया है।

हालांकि, यह भी महत्वपूर्ण है कि वैश्वीकरण ने भ्रष्टाचार से लड़ने के नए साधन उपलब्ध कराए हैं। सूचना प्रौद्योगिकी में विकास, डिजिटल प्रशासन, ई-गवर्नेंस और वैश्विक पारदर्शिता मानकों ने प्रशासनिक प्रक्रियाओं को अधिक खुला और जिम्मेदार बनाया है। सूचना का अधिकार, डिजिटल भुगतान प्रणाली और ऑनलाइन सेवाएँ भ्रष्टाचार के पारंपरिक रास्तों को सीमित करने में मददगार साबित हो रही हैं।

इस प्रकार, वैश्वीकरण और भारत में भ्रष्टाचार के बीच संबंध को एक जटिल और बहुआयामी प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। यह न पूरी तरह वैश्वीकरण की देन है, न केवल आंतरिक कमजोरियों का परिणाम। वास्तव में, यह दोनों के अंतर्संबंध से उत्पन्न समस्या है। इस अध्ययन का उद्देश्य इसी अंतर्संबंध का विश्लेषण करना है, ताकि यह समझा जा सके कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया को कैसे अधिक पारदर्शी, न्यायपूर्ण और भ्रष्टाचार-मुक्त बनाया जा सकता है।

वैश्वीकरण: अवधारणा और स्वरूप

वैश्वीकरण को मुख्यतः विभिन्न देशों के बीच बढ़ती अर्थव्यवस्थित, सामाजिक और सांस्कृतिक निर्भरता के रूप में समझा जाता है। यह एक मात्र आर्थिक प्रक्रिया नहीं है, इसमें राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू भी शामिल हैं। आर्थिक वैश्वीकरण में मुक्त व्यापार, विदेशी निवेश, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विस्तार और निजीकरण महत्वपूर्ण घटक हैं। राजनीतिक वैश्वीकरण में अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका बढ़ी है, जबकि सामाजिक-सांस्कृतिक वैश्वीकरण ने जीवनशैली, उपभोग और मूल्यों को प्रभावित किया है।

भारत में वैश्वीकरण की शुरुआत 1991 में आर्थिक सुधारों के साथ हुई, जब देश ने नियंत्रित अर्थव्यवस्था से स्वतंत्र बाजार की दिशा में प्रगति की। इसके बाद, भारत वैश्विक पूंजी और बाजार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा।

भारत में भ्रष्टाचार: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भ्रष्टाचार भारत में औपनिवेशिक काल से प्रशासन में शामिल रहा है। स्वतंत्रता के बाद भी, नौकरशाही, राजनीति और आर्थिक प्रणाली में यह समस्या बनी रही। लाइसेंस-परमिट व्यवस्था के समय में, भ्रष्टाचार ज्यादातर प्रशासनिक नियंत्रण से जुड़ा था, जिसमें रिश्वत और भाई-भतीजावाद आम थे।

ग्लोबलाइज़ेशन से पहले, भ्रष्टाचार स्थानीय और सीमित था, लेकिन इसके बाद यह अधिक संगठित और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर फैल गया।

वैश्वीकरण और भ्रष्टाचार का अंतर्संबंध

वैश्वीकरण और भ्रष्टाचार के बीच का संबंध सरल नहीं है। कुछ विशेषज्ञ मानते हैं कि वैश्वीकरण पारदर्शिता और प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देकर भ्रष्टाचार को कम करता है, जबकि अन्य का मानना है कि यह नए आर्थिक अवसरों के माध्यम से भ्रष्टाचार को बढ़ावा देता है। भारत में, यह संबंध और भी जटिल है।⁷ वैश्वीकरण ने राज्य की भूमिका को नया रूप दिया है, जहां निजी क्षेत्र की भागीदारी और विनियामक शासन ने नीति-निर्माण में कॉर्पोरेट प्रभाव को बढ़ा दिया है, जिसके चलते 'नीति-स्तरीय भ्रष्टाचार' की समस्या सामने आई है।

आर्थिक उदारीकरण और भ्रष्टाचार

आर्थिक उदारीकरण का उद्देश्य सरकारी हस्तक्षेप को कम करते हुए बाजार को स्वतंत्र बनाना था। इससे लाइसेंस-परमिट प्रथा में कमी तो आई, लेकिन बड़े निवेश और संसाधनों के आवंटन में नए भ्रष्टाचार के अवसर भी उत्पन्न हुए। कई क्षेत्रों में बड़े घोटाले इस बात की पुष्टि करते हैं कि निगरानी तंत्र के अभाव में भ्रष्टाचार बढ़ सकता है।

वैश्विक पूंजी ने राजनीतिक दलों के वित्तपोषण और चुनावी खर्च को भी प्रभावित किया, जिससे राजनीति और कॉर्पोरेट जगत के बीच पारदर्शी संबंध में कमी आई।

राजनीतिक वैश्वीकरण और भ्रष्टाचार

राजनीतिक वैश्वीकरण ने वैश्विक संस्थाओं और समझौतों के माध्यम से राष्ट्रीय नीतियों को प्रभावित किया है, जिससे कई बार नीति निर्णय वैश्विक बाजार की अपेक्षाओं के अनुरूप होते हैं, जिससे लोकतांत्रिक जवाबदेही कमजोर होती है।

सत्ता का केंद्रीकरण और चुनावी प्रतिस्पर्धा ने भ्रष्टाचार को सत्ता प्राप्ति का साधन बना दिया है, जिसके कारण वैश्वीकरण के साथ राजनीतिक खर्चों में वृद्धि हुई है।

सामाजिक असमानता और भ्रष्टाचार

वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप आर्थिक विकास समान रूप से वितरित नहीं हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि अमीर और गरीब के बीच की दूरी में वृद्धि हुई। सामाजिक असमानता ने भ्रष्टाचार को दो स्तरों पर बढ़ाया है: एक ओर गरीबों को बुनियादी सेवाओं के लिए रिश्वत देनी पड़ी, तो दूसरी ओर संपन्न वर्ग ने अपने हितों की रक्षा के लिए राजनीतिक और प्रशासनिक कार्यों को प्रभावित किया।

इस प्रकार भ्रष्टाचार अब केवल प्रशासनिक समस्या नहीं बल्कि सामाजिक ढांचे का एक हिस्सा बन गया है।

तकनीक, वैश्वीकरण और भ्रष्टाचार

सूचना और संचार प्रौद्योगिकी वैश्वीकरण की एक महत्वपूर्ण देन है। डिजिटल शासन, ऑनलाइन सेवाएँ और जानकारी की उपलब्धता ने भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने में मदद की है। भारत में डिजिटल भुगतान और सूचना का अधिकार जैसे उपाय भ्रष्टाचार को कम करने में सहायक साबित हुए हैं, लेकिन तकनीक के दुरुपयोग और साइबर भ्रष्टाचार नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

भ्रष्टाचार के प्रभाव

वैश्वीकरण के संदर्भ में भ्रष्टाचार का प्रभाव कई स्तरों पर है। यह आर्थिक विकास की गति को धीमा करता है, निवेशकों का विश्वास कम करता है, और संसाधनों के उपयोग में बाधा डालता है। सामाजिक रूप से, यह असमानता और असंतोष को बढ़ाता है, जबकि राजनीतिक स्तर पर लोकतंत्र की विश्वसनीयता को कमजोर करता है।

समाधान और सुधार की दिशा

भ्रष्टाचार के समाधान के लिए सिर्फ आर्थिक सुधार ही अपर्याप्त हैं। इसके लिए संस्थागत मजबूती, पारदर्शिता, जवाबदेही और नैतिक शासन आवश्यक हैं। वैश्वीकरण के लाभ तभी सार्थक हो सकते हैं जब नीति-निर्माण में जनभागेदारी हो और कानून का समान अनुपालन हो।

शिक्षा, नागरिक जागरूकता, स्वतंत्र मीडिया, और एक सशक्त न्यायपालिका भ्रष्टाचार से निपटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं, और वैश्विक स्तर पर सहयोग और मानकों का पालन भी जरूरी है।

अतः सामाजिक दृष्टिकोण से, वैश्वीकरण द्वारा उत्पन्न असमान विकास ने भ्रष्टाचार को और भी बढ़ावा दिया है। विकास के लाभों का असमान वितरण गरीब और वंचित वर्गों को बुनियादी सेवाओं के लिए भ्रष्ट

तंत्र पर निर्भर होने को मजबूर करता है, जबकि आर्थिक रूप से सक्षम वर्ग अपने हितों की रक्षा करने में सक्षम हो जाते हैं। इस प्रकार, भ्रष्टाचार सामाजिक अन्याय और असमानता का कारण भी बनता है।

राजनीतिक क्षेत्र में वैश्वीकरण के प्रभाव से चुनावी राजनीति ज्यादा महंगी और प्रतिस्पर्धात्मक हो गई है। राजनीतिक दलों के वित्तपोषण की अदृश्य व्यवस्थाएँ और सत्ता की तीव्र आकांक्षा ने भ्रष्टाचार को राजनीतिक व्यवहार का एक अनौपचारिक लेकिन प्रभावी रूप बना दिया है, जिससे लोकतांत्रिक जवाबदेही, कानून का शासन, और जन विश्वास प्रभावित हुआ है।

हालाँकि, यह भी पाया गया है कि वैश्वीकरण ने भ्रष्टाचार के खिलाफ संघर्ष के लिए नए मौके और साधन प्रदान किए हैं। सूचना प्रौद्योगिकी, डिजिटल शासन, ई-गवर्नेंस, और वैश्विक पारदर्शिता मानकों ने प्रशासन को अधिक खुला और उत्तरदायी बनाने की संभावनाएँ दी हैं। यदि इन साधनों का प्रभावी और निष्पक्ष उपयोग किया जाए, तो भ्रष्टाचार पर नियंत्रण संभव है।

अध्ययन के उद्देश्य

वैश्वीकरण की अवधारणा तथा उसके आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आयामों का विश्लेषण करना।

भारत में भ्रष्टाचार की प्रकृति, स्वरूप और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।

1991 के बाद लागू वैश्वीकरण नीतियों (उदारीकरण, निजीकरण) के प्रभाव में भ्रष्टाचार के बदलते रूपों की पहचान करना।

वैश्वीकरण और भ्रष्टाचार के बीच अंतर्संबंधों का समाजशास्त्रीय एवं आर्थिक विश्लेषण करना।

वैश्वीकरणोत्तर भारत में भ्रष्टाचार के सामाजिक, आर्थिक और लोकतांत्रिक प्रभावों का मूल्यांकन करना।

निष्कर्ष

इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वैश्वीकरण और भारत में भ्रष्टाचार के बीच का संबंध अत्यंत जटिल, बहुआयामी और द्वंद्ववात्मक है। वैश्वीकरण ने भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज में नए संभावनाओं का द्वार खोला है, जैसे आर्थिक विकास, तकनीकी प्रगति, वैश्विक बाजार से जुड़ाव और प्रशासनिक आधुनिकीकरण। लेकिन इन सकारात्मक बदलावों के साथ-साथ भ्रष्टाचार की प्रकृति, स्वरूप और विस्तार में भी महत्वपूर्ण परिवर्तनों को देखा गया है। यह परिवर्तन मात्रात्मक ही नहीं, बल्कि गुणात्मक भी है, जहां भ्रष्टाचार पारंपरिक रिश्तखोरी से आगे बढ़कर नीति निर्धारण, संसाधन आवंटन और संस्थागत ढाँचे में भी फैल गया है।

अध्ययन में यह दर्शाया गया है कि भारत में वैश्वीकरण के बाद राज्य की भूमिका में आए बदलावों ने शासन प्रणाली को अधिक जटिल बना दिया है। निजी क्षेत्र और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की बढ़ती भागीदारी ने जहां दक्षता और निवेश को बढ़ावा दिया है, वहीं नीति-निर्धारण में पारदर्शिता और जवाबदेही की कमी से सत्ता और पूंजी के बीच करीबी संबंध बने हैं। परिणामस्वरूप, भ्रष्टाचार एक संरचनात्मक समस्या के रूप में उभरकर लोकतांत्रिक संस्थाओं की विश्वसनीयता को नुकसान पहुँचा रहा है।

इस प्रकार, कहा जा सकता है कि समस्या स्वयं वैश्वीकरण में नहीं, बल्कि इसके कार्यान्वयन, संस्थागत कमजोरियों, और नैतिक शासन के अभाव में है। आवश्यक है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया को सामाजिक न्याय, पारदर्शिता, जवाबदेही, और लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ जोड़ा जाए। मजबूत संस्थाएँ, स्वतंत्र न्यायपालिका, जागरूक नागरिक समाज और पारदर्शी नीति-निर्माण ही भारत में भ्रष्टाचार को कम करने और वैश्वीकरण के लाभों को समावेशी और सतत विकास में बदलने का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

सन्दर्भ सूची

- पटनायक, प्रभात (2012). भारतीय अर्थव्यवस्था और वैश्वीकरण. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
सेन, अमर्त्य (2000). विकास और स्वतंत्रता. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

- गुहा, रामचंद्र (2018). आधुनिक भारत का इतिहास. नई दिल्ली: पेंगुइन इंडिया।
- कुमार, सुशील (2010). वैश्वीकरण और भारतीय समाज. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशंस।
- बार्डन, रॉबर्ट (1989). भ्रष्टाचार का राजनीतिक अर्थशास्त्र. नई दिल्ली: विकास पब्लिशिंग।
- हंटिंगटन, सैमुअल पी. (1968). बदलते समाजों में राजनीतिक व्यवस्था, नई दिल्ली: येल यूनिवर्सिटी प्रेस।
- विश्व बैंक (2019). भारत में सुशासन और भ्रष्टाचार. वाशिंगटन डी.सी.: विश्व बैंक प्रकाशन।



सोनपुर मेला का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य : एक अध्ययन

जूली कुमारी*
डॉ. शिखा सिन्हा**

सारांश

भारतीय संस्कृति में मेले और त्योहार प्राचीन काल से ही सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं। ये न केवल सामूहिकता और पारिवारिक एकता को सुदृढ़ करते हैं, बल्कि सांस्कृतिक परंपराओं की निरंतरता को भी बनाए रखते हैं। इसी संदर्भ में सोनपुर मेला एक प्रसिद्ध पशु मेले के रूप में जाना जाता है, जिसकी उत्पत्ति पौराणिक परंपराओं से जुड़ी है। समय के साथ यह मेला विभिन्न ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के माध्यम से एक बहुआयामी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक केंद्र के रूप में विकसित हुआ है।

मुख्य शब्द: सोनपुर मेला, सांस्कृतिक परंपरा, सामाजिक संरचना, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, औपनिवेशिक अध्ययन, राष्ट्रवाद, लोक संस्कृति, आर्थिक विनिमय, सामुदायिक सहभागिता, पहचान निर्माण

परिचय

प्राचीन काल से ही भारतीय परंपरा, कला और संस्कृति सृजनशीलता एवं नवाचार से समृद्ध रही है। पौराणिक कथाओं और धार्मिक ग्रंथों में कला, संस्कृति, सामाजिक गतिविधियों तथा मनोरंजन से जुड़े विभिन्न आयोजनों का उल्लेख मिलता है। मानव अपनी आवश्यकताओं और जिज्ञासा के कारण निरंतर नए कार्यों में संलग्न रहता है और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ता है। इसी क्रम में मेले, हाट, बाजार तथा वस्तुओं की खरीद-बिक्री चाहे वे साप्ताहिक, मासिक या वार्षिक हों भारतीय जीवन शैली का महत्वपूर्ण हिस्सा रहे हैं और आज भी प्रचलित हैं। त्योहार और मेले भारतीय संस्कृति के प्रमुख घटक हैं, जो वर्ष भर विभिन्न क्षेत्रों में निरंतर आयोजित होते रहते हैं। इन आयोजनों को समाज द्वारा अत्यंत उत्साह और सहभागिता के साथ मनाया जाता है। आधुनिक भौतिकतावादी एवं वैश्वीकरण के युग में भी इन पर्वों में व्यापक जनभागीदारी भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं की गहनता और निरंतरता को दर्शाती है। राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर मनाए जाने वाले ये उत्सव पूर्व-नियोजित होते हैं और इनके आयोजन हेतु विशेष तैयारी की जाती है। प्रमुख त्योहारों के अवसर पर दूरस्थ क्षेत्रों में निवास करने वाले परिवारजन भी एकत्रित होकर सामूहिक रूप से उत्सव मनाते हैं, जिससे पारिवारिक संबंधों में सुदृढ़ता आती है। यह सामूहिक आनंद की अवधारणा पाश्चात्य समाज की व्यक्तिगत आनंद-धारणा से भिन्न है। दशहरा, दीपावली, होली एवं ईद जैसे प्रमुख त्योहारों के आयोजन में स्थानीय स्तर पर समितियों का गठन किया जाता है, जो सामूहिक सहभागिता और सामाजिक सहयोग को बढ़ावा देता है।

सोनपुर एक महीने तक चलने वाले प्रसिद्ध पशु मेले के आयोजन के लिए व्यापक रूप से जाना जाता है, जिसे लोकप्रिय रूप से सोनपुर मेला कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति प्राचीन काल और पौराणिक कथाओं से जुड़ी मानी जाती है। सोनपुर मेले की धार्मिक महत्ता के विपरीत, यह अध्ययन उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास करता है, जिन्होंने समय के साथ इसे एक बहुआयामी अर्थ वाले विशिष्ट स्थल के रूप में रूपांतरित किया।

साहित्य समीक्षा

हेरी एबॉट, सोनपुर रेमिनिसेन्सेज: 1840-1896 (1896) तथा **विलियम टेलर, थर्टी एट इयर्स इन इंडिया (1881)** इन ग्रंथों में मेले को एक भव्य सामाजिक एवं मनोरंजनात्मक आयोजन के रूप में चित्रित किया गया है, जिसमें घुड़दौड़, व्यापार और ब्रिटिश अधिकारियों की सक्रिय भागीदारी पर विशेष बल दिया गया है।

पी. सी. चौधरी, बिहार जिला गजेटियर: सारण (1960) तथा **भोलानाथ चंद्र, द ट्रेवल्स ऑफ अ हिंदू टू वेरियस पार्ट्स ऑफ बंगाल एंड अपर इंडिया (1869)** में मेले की प्राचीनता, पौराणिकता और क्षेत्रीय महत्व को रेखांकित किया गया है।

के. के. दत्ता, बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास (1957) में सोनपुर मेले को 1857 के विद्रोह से लेकर राष्ट्रवादी आंदोलनों तक एक महत्वपूर्ण राजनीतिक मंच के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सैद्धांतिक दृष्टि से **बेनेडिक्ट एंडरसन, इमैजिन्ड कम्युनिटीज (1983)** और **जर्गेन हाबर्मास, लेख द पब्लिक स्फीयर (1974)** मेले को सामूहिक पहचान और जनमत निर्माण के स्थल के रूप में समझने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी

* शोध छात्रा, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

** सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जय प्रकाश महिला कॉलेज, सारण, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

क्रम में सैड्रिया बी. फ्राइटेग की *कलेक्टिव एक्शन एंड कम्युनिटी* (1989) तथा उनका लेख “इंट्रोडक्शन” (1991) सार्वजनिक स्थलों और सामुदायिक चेतना के विकास में मेलों की भूमिका को स्पष्ट करते हैं।

डायना एल. एक की *बनारस: सिटी ऑफ लाइट* (1983) तथा कैथरीन हैनसेन की *ग्रांड्स फॉर प्ले* (1992) में धार्मिक आस्था, लोक-संस्कृति और नाट्य परंपराओं के माध्यम से मेलों के सांस्कृतिक महत्व को रेखांकित किया गया है।

एस. डी. प्रसाद की *बिहार के मेले और त्योहार* (1961) इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण स्रोत है, जो क्षेत्रीय मेलों की परंपरा और सामाजिक भूमिका का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करता है।

जे. सी. झा की *ब्रिटिश वेस्ट इंडीज में भारतीय बंधुआ प्रवासन* (1999) तथा हितेंद्र के. पटेल का लेख “आधुनिक बिहार में हिंदू संगठन के पहलू” (2004) मेले को श्रम-गतिशीलता, आर्थिक और सामाजिक आयामों पर, धार्मिक आंदोलनों और सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में विश्लेषित करते हैं।

स्वामी सहजानंद सरस्वती, *मेरे जीवन का संघर्ष* (2018) में किसान आंदोलनों के प्रसार में ऐसे मेलों की भूमिका का उल्लेख मिलता है।

फोर्टनाइटली रिपोर्ट (1920-1944) तथा *द टाइम्स ऑफ इंडिया* (1921-1930) जैसे औपनिवेशिक अभिलेख मेले में होने वाली राजनीतिक गतिविधियों, सामाजिक समस्याओं और प्रशासनिक नियंत्रण की जानकारी प्रदान करते हैं।

सोनपुर मेले की प्राचीन ऐतिहासिक परंपरा उत्तर वैदिक काल तक जाती है, जब यह दूरस्थ मध्य एशिया तक के व्यापारियों और खरीदारों को आकर्षित करता था। यह माना जाता है कि मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चंद्रगुप्त मौर्य (340 ई.पू.-298 ई.पू.) यहाँ के बाजार से घोड़े और हाथी खरीदा करते थे। इस स्थल की प्राचीनता का प्रमाण सोनपुर में शुंग काल (184 ई.पू.-75 ई.पू.) के पत्थर के स्तंभ की पुरातात्विक खुदाई से भी मिलता है (चौधरी, पी. सी, 1960, पृ. 498)। प्रारंभिक काल से ही यह मेला राजनीतिक महत्व का केंद्र बन गया था, जिसका प्रमाण सोलहवीं शताब्दी में राजनीतिक कारणों से इसके आयोजन स्थल को हाजीपुर स्थानांतरित करने के निर्णय से मिलता है। हालांकि, बार-बार आने वाली बाढ़ की समस्या के कारण इसे पुनः सोनपुर में आयोजित किया जाने लगा (यांग, आनंद ए, 1989, पृ. 15)।

इस मेले ने शाही परिवारों और बड़े जमींदारों जैसे हथुआ, डुमरांव, बेतिया, टिकारी और दरभंगा के महाराजाओंका भी ध्यान आकर्षित किया, जो मेले में आयोजित घुड़दौड़ के लिए पुरस्कार प्रदान करते थे (एबॉट, हैरी, 1896, पृ. 61)। मेले में बढ़ती रुचि सत्ता-प्रदर्शन का भी माध्यम थी, जिसके द्वारा शासक अपने प्रजाजनों के साथ संबंध स्थापित करते थे।

ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही मेले का महत्व और बढ़ने लगा। जैसे-जैसे औपनिवेशिक शासकों का ध्यान अपने साम्राज्य के विस्तार पर केंद्रित हुआ, परिवहन नेटवर्क उनके दूरस्थ क्षेत्रों में भौतिक उपस्थिति का महत्वपूर्ण संकेत बन गया। रेलवे लाइनों के आगमन से सोनपुर मेले में आने वाले तीर्थयात्रियों की संख्या में वृद्धि हुई और औपनिवेशिक राज्य के नियंत्रण के विभिन्न साधनों का विस्तार हुआ। ब्रिटिशों के लिए सोनपुर मेले का स्थल अलग-अलग अर्थ रखता थाकूछ के लिए यह नीरस और एकाकी जीवन से निकलकर एक विलक्षण अनुभव प्राप्त करने का अवसर था, जबकि अन्य के लिए यह अपने प्रजाजनों पर निगरानी रखकर नियंत्रण स्थापित करने का माध्यम था (टेलर, विलियम, 1881 पृ.496)।

मेले का सामाजिक पक्ष भी ब्रिटिश अधिकारियों और प्लॉटर्स के बीच अत्यंत लोकप्रिय था। घुड़दौड़, क्रिकेट, पोलो, जिम्नास्टिक और बॉल-डांसिंग जैसे खेल इसमें विशेष आकर्षण का केंद्र थे। उन्नीसवीं शताब्दी से यह मेला एक विशाल उत्सव और मनोरंजन स्थल के रूप में विकसित हो गया (एबॉट, हैरी, 1896, पृ.54)। ब्रिटिश प्लॉटर्स के विवरणों में मेले की जीवंतता, भव्य शामियाने, विशाल पिकनिक और रात्रिभोजों का रोमानी चित्रण मिलता है। भारत में ब्रिटिश समुदाय के लिए यह मेला सामाजिक मेल-मिलाप का ऐसा अवसर था, जिसे उन्होंने ‘घर के लोगों के लिए क्रिसमस’ के समान माना (एबॉट, हैरी, 1896, पृ. 5)।

विलियम टेलर ने मेले का एक भिन्न और व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया, जिसमें ग्रामीण भारत को असभ्य संस्कृति के रूप में दिखाया गया है। वे लिखते हैं कि सोनपुर में अंग्रेज अपने परिवारों और सेवकों के साथ रेस्कॉर्स और क्रिकेट मैदानों पर कब्जा कर लेते हैं, जबकि पृष्ठभूमि में भालू, बंदर, साधु और अन्य विचित्र प्रदर्शन दिखाई देते हैं (टेलर, विलियम, 1881, पृ. 503)।

ब्रिटिश अधिकारी मेले में केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं आते थे, बल्कि अवैध गतिविधियों की निगरानी भी करते थे, क्योंकि मेलों को अपराध का केंद्र माना जाता था (यांग, आनंद ए, 1989, पृ. 25)। बड़ी भीड़ को नियंत्रित करना प्रशासन के लिए चिंता का विषय था, जिसके कारण मजिस्ट्रेट ‘सोनपुर जाने वाले मार्ग’ पर ही अदालत लगाकर मामलों का निपटारा करते थे (यांग, आनंद ए, 1989, पृ. 31)। बिहार प्रांतीय स्काउट्स संघ के माध्यम से भीड़ प्रबंधन किया जाता था, जो ग्रामीण क्षेत्रों में औपनिवेशिक सत्ता स्थापित करने का एक माध्यम था (टाइम्स ऑफ इंडिया, 1938)।

मेले में असहयोग आंदोलन से संबंधित साहित्य के वितरण पर भी कड़ी निगरानी रखी जाती थी। इसके लिए पुलिस बल और दानापुर से सैन्य टुकड़ियाँ तैनात की जाती थीं (राष्ट्रीय अभिलेखागार, 1921)। 1930 में बैजनाथ चौधरी को भड़काऊ पर्व बांटने के आरोप में दंडित किया गया (फोर्टनाइटली रिपोर्ट, 1930)। साम्प्रदायिक सभाओं को रोकने के लिए 1921 में ‘संपादकीय सभाएँ अधिनियम’ को तिरहुत क्षेत्र में लागू किया गया।

पशुओं के उपचार के लिए भी अस्थायी शिविर बनाए गए। एक रिपोर्ट के अनुसार, 1942 में 3,123 पशुओंजिनमें गाय, भैंस, बैल, घोड़े और हाथी शामिल थेको सोनपुर मेले के लिए रेलवे द्वारा लाया गया (वेटरिनरी रिपोर्ट, 1942)।

हालांकि, कुछ ब्रिटिश अधिकारियों, जैसे ए.एल. क्ले, ने इस मेले को महत्व नहीं दिया, जिसकी आलोचना 1886 में कवियों द्वारा की गई। इस प्रकार, सोनपुर मेला न केवल सांस्कृतिक और आर्थिक गतिविधियों का केंद्र था, बल्कि औपनिवेशिक सत्ता, सामाजिक संबंधों और प्रशासनिक नियंत्रण का भी महत्वपूर्ण मंच था।

सोनपुर मेला भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण अंग था, जिसकी जड़ें 1857 के विद्रोह में देखी जा सकती हैं। बिहार के जमींदारों और राजाओं ने, कुंवर सिंह के नेतृत्व में, सोनपुर मेले के अवसर पर ख्वाजा हुसैन अली खान के तंबू में एक गुप्त सम्मेलन आयोजित किया (दत्ता, के. के., 1957, पृ. 150)। इस बैठक का उद्देश्य दानापुर के सिपाहियों को अपने पक्ष में करना था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मेलों का उपयोग राष्ट्रवादी आंदोलन के विस्तार के लिए किया जाने लगा। यह राजनीतिक आंदोलनों के सशक्त केंद्र के रूप में उभरने लगा। मेलों ने नैतिकता और सामाजिक उद्देश्य को आत्मसात करते हुए लोगों को शिक्षित करने, एकजुट करने और सांस्कृतिक गौरव की भावना जगाने का कार्य किया। इस समय राष्ट्रवादी नेताओं ने समाज के सभी वर्गों को संगठित करने का प्रयास किया और मेले को भारतीयता की पारंपरिक जड़ों से जुड़े स्वदेशी संस्कृति के प्रतीक के रूप में देखा।

सोनपुर मेला औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध क्रांतिकारी और उग्र गतिविधियों का भी केंद्र बन गया, क्योंकि यह सूचना प्रसार का प्रभावी माध्यम था। उदाहरणस्वरूप, 1908 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के क्षेत्रीय समर्थकों ने यहाँ बैठक कर नवाब सरफराज हुसैन खान बहादुर के नेतृत्व में बिहार प्रांतीय कांग्रेस समिति की स्थापना की (दत्ता, के. के., 1957, पृ. 150)। महात्मा गांधी के ग्रामीण सामाजिक सेवा के विचारों से प्रेरित होकर 1919 में एक राहत समिति को सोनपुर मेले में भेजा गया (दत्ता, के. के., 1957, पृ. 279)। इसी प्रकार, 1929 में स्वामी सहजानंद सरस्वती की अध्यक्षता में बिहार प्रांतीय किसान सभा की स्थापना भी इसी मेले के मंच पर की गई, ताकि ग्रामीण किसानों तक आसानी से पहुँचा जा सके।

बाद में गांधीजी के अनुयायियों ने मेले में सेवाश्रम स्थापित किए, जिनका उद्देश्य आंगंतुकों की सहायता करना और उनमें देशभक्ति की भावना जागृत करना था। इन गतिविधियों के कारण औपनिवेशिक प्रशासन की विशेष निगरानी मेले पर बनी रही। नवंबर 1924 की रिपोर्ट में उल्लेख है कि सोनपुर मेले में सत्याग्रह शुरू करने की चर्चा हो रही थी, जिससे प्रशासन चिंतित था (फोर्टनाइट रिपोर्ट 1924)।

उन्नीसवीं शताब्दी में मेले राष्ट्रीय आंदोलन के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों से गहराई से जुड़ गए। 1916 में रीवा के महाराजा ने सोनपुर मेले में गायों के व्यापार पर आपत्ति जताई, जिसके परिणामस्वरूप मेलों में गो-वध पर प्रतिबंध लगाने का प्रस्ताव तैयार किया गया। 1921 में साधुओं और गौरक्षिणी सभा के सदस्यों ने यहाँ गोहत्या के विरुद्ध अभियान चलाया (राष्ट्रीय अभिलेखागार 1921)। प्रारंभ में यह कानून-व्यवस्था बनाए रखने का प्रयास था, लेकिन बाद में यह सामुदायिक अधिकारों से जुड़ा मुद्दा बन गया।

इसके अतिरिक्त, अस्पृश्यता के विरुद्ध भी सोनपुर मेले में व्यापक प्रचार किया गया। मुजफ्फरपुर जिला समिति ने व्याख्यानों, पर्चों और पुस्तिकाओं के माध्यम से लोगों को जागरूक किया (दत्ता, के. के., 1957, पृ. 198)। 1941 के दौरान मेले में युद्ध-प्रचार और प्रदर्शनियों ने भी बड़ी संख्या में लोगों को आकर्षित किया, जहाँ रक्षा बचत प्रमाणपत्रों की बिक्री जैसे उदाहरण दर्ज किए गए (फोर्टनाइट रिपोर्ट 1941)।

गांधीवादी विचारों से प्रेरित होकर सामाजिक सुधारों पर भी ध्यान दिया गया। 1937 में एम. शेफर्ड द्वारा राजेंद्र प्रसाद को लिखे पत्र में मेले में महिलाओं के शोषण और अनैतिक व्यापार की गंभीर स्थिति का वर्णन किया गया (चौधरी, पी. सी., 1984, पृ. 145)। इसके बाद राजेंद्र प्रसाद ने सार्वजनिक स्वास्थ्य निदेशक को पत्र लिखकर इस समस्या की जानकारी मांगी और सामाजिक संगठनों को इसके निराकरण हेतु सक्रिय करने का सुझाव दिया (चौधरी, पी. सी., 1984, पृ. 152)।

सोनपुर मेला व्यापारिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण था। यह उत्तर और दक्षिण बिहार के बीच वार्षिक बाजार केंद्र बन गया, जहाँ पशुओं और विभिन्न वस्तुओं का व्यापार होता था। यहाँ पूर्वोत्तर भारत से लेकर दक्षिणी क्षेत्रों तक के व्यापारी उच्च गुणवत्ता वाले पशुओं की खरीद-फरोख्त के लिए आते थे। इसके अतिरिक्त, यह स्थान निम्न जातियों के श्रमिकों की भर्ती का केंद्र भी बन गया (झा, जे. सी., 1999, पृ. 19)। इस प्रकार, सोनपुर मेला केवल एक सांस्कृतिक आयोजन नहीं था, बल्कि यह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का बहुआयामी केंद्र था, जिसने विभिन्न उद्देश्यों और अर्थों को अपने भीतर समाहित किया।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में मेले और त्योहार केवल धार्मिक या मनोरंजनात्मक आयोजन भर नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के सशक्त माध्यम भी हैं। विशेष रूप से सोनपुर मेला, जिसकी जड़ें प्राचीन और पौराणिक परंपराओं में निहित हैं, समय के साथ अनेक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से गुजरते हुए एक बहुआयामी संस्था के रूप में विकसित हुआ है।

प्राचीन काल में यह व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्रमुख केंद्र था, जबकि मध्यकाल और औपनिवेशिक काल में यह सत्ता-संबंधों, सामाजिक संरचनाओं और प्रशासनिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण स्थल बन गया। ब्रिटिश शासन के दौरान यह मेला एक ओर नियंत्रण और निगरानी का माध्यम था, तो दूसरी ओर भारतीय समाज के लिए यह सांस्कृतिक पहचान और सामूहिकता का प्रतीक बना रहा।

स्वतंत्रता संग्राम के दौर में सोनपुर मेला राजनीतिक जागरण और राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार का सशक्त मंच बनकर उभरा। यहाँ आयोजित सभाओं, आंदोलनों और सामाजिक अभियानों ने जनसामान्य को संगठित करने तथा सामाजिक सुधारों को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। साथ ही, यह मेला आर्थिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहा, जिसने व्यापार, पशु-विनिमय और श्रम-गतिशीलता को प्रोत्साहित किया।

अतः यह कहा जा सकता है कि सोनपुर मेला एक जीवंत सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था है, जो विभिन्न कालखंडों में बदलती परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को पुनर्परिभाषित करता रहा है। यह न केवल भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की निरंतरता का प्रतीक है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन, राजनीतिक चेतना और आर्थिक गतिविधियों के समन्वय का एक महत्वपूर्ण उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

संदर्भ:

- एबॉट, हेरी, *सोनपुर रेमिनिसेन्सेज़: 1840-1896*. द स्टार प्रेस, कलकत्ता, 1896।
 चौधरी, पी. सी, *बिहार जिला गजेटियर: सारण*, सचिवालय प्रेस, पटना, 1960।
 दत्ता, के. के, *बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*. खंड 1, बिहार सरकार, पटना, 1957।
 एक, डायना एल, *बनारस: सिटी ऑफ लाइट*. रूटलेज एंड केगन पॉल, लंदन, 1983।
 फोर्टनाइटली रिपोर्ट, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, 1920-1944।
 फ्राइटेग, सैडिया बी, *कलेक्टिव एक्शन एंड कम्युनिटी: पब्लिक एरेनाज एंड द इमर्जेस ऑफ कम्युनलिज्म इन नॉर्थ इंडिया*. यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1989।
 जेनकिंस, आर. पी, "स्पेशल ड्यूटी, रेलवे।" *बंगाल राजस्व कार्यवाही*, कलकत्ता, जनवरी-अप्रैल, 1866।
 झा, जे. सी, *ब्रिटिश वेस्ट इंडीज में भारतीय बंधुआ प्रवासन (1838-1917) और उसका प्रभाव*. के. पी. जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, 1999।
 हाबर्मास, जर्गेन, "पब्लिक स्फीयर: एक विश्वकोशीय लेख (1964)।" अनुवाद: सारा लेनॉक्स, फ्रैंक लेनॉक्स, *न्यू जर्मन क्रिटिक*, संख्या 3, न्यूयॉर्क, 1974।
 हैनसेन, कैथरीन, *ग्राउंड्स फॉर प्ले: नाटक और नौटंकी थिएटर ऑफ नॉर्थ इंडिया*. यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1992।
 मार्शल, जॉन, *जॉन मार्शल इन इंडिया: नोट्स एंड ऑब्जर्वेशंस इन बंगाल (1668-1672)*. संपादक: शफात अहमद खान, हम्म्री मिलफोर्ड, लंदन, 1927।
 प्रसाद, एस. डी, *बिहार के मेले और त्योहार*. भाग VII-B, खंड 4, जनगणना प्रकाशन, पटना, 1961।
 सरस्वती, स्वामी सहजानंद, *मेरे जीवन का संघर्ष*. अनुवाद एवं संपादन: रामचंद्र प्रधान, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2018।
 टेलर, विलियम, *थर्टी-एट इयर्स इन इंडिया*. खंड 1, डब्ल्यू. एच. एलन, लंदन, 1881।
 द टाइम्स ऑफ इंडिया, मुंबई, 1921-1930।
 यांग, आनंद ए, "नियंत्रण के रूपक: सोनपुर मेले के परिप्रेक्ष्य में।" *द लिमिटेड राज: एग्रेरियन रिलेशंस इन कॉलोनियल इंडिया*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1989।
 यांग, आनंद ए, "औपनिवेशिक युग में मेले: विनिमय के धार्मिक स्थल।" *बाजार इंडिया: मार्केट्स, सोसाइटी एंड द कॉलोनियल स्टेट इन बिहार*. यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1998।



वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली के निर्माण में हिन्दी की भूमिका : एक भाषावैज्ञानिक विश्लेषण

अश्वनी कुमार मिश्र*

शोध-सार :

हिन्दी में विज्ञान-लेखन की परंपरा प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा से अनुप्राणित रही है, जहाँ 'शून्य', 'दशमलव' तथा 'बीजगणित' जैसे सिद्धांतों के माध्यम से वैज्ञानिक चिंतन का सुदृढ़ आधार निर्मित हुआ। हिन्दी की वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली के विकास का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए हम पाते हैं कि प्राचीन समय से 19वीं शताब्दी होते हुए वर्तमान डिजिटल युग तक की क्रमबद्ध जययात्रा रही है। विशेषतः नागरी प्रचारिणी सभा, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग तथा अन्य शैक्षणिक एवं सरकारी संस्थानों के प्रयास इस एवज में मुख्य आधार प्रस्तुत करते हैं।

अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण केवल अनुवाद-आधारित प्रक्रिया न होकर एक सुसंगठित बौद्धिक एवं भाषिक पुनर्सृजन की प्रक्रिया है, जिसमें सटीकता, संप्रेषणीयता और व्यवहारिकता के संतुलन की आवश्यकता होती है। तथापि, अनेक स्थलों पर अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ एवं क्लिष्ट शब्दावली के कारण इसके व्यावहारिक प्रयोग में बाधाएँ भी उत्पन्न हुई हैं, जिससे विज्ञान का जनसामान्य तक सहज संप्रेषण प्रभावित होता है। बावजूद हिन्दी को विज्ञान की प्रभावी भाषा के रूप में स्थापित करने के लिए त्रि-आयामी शब्दावली दृष्टिकोण—तत्सम, तद्भव/देशज तथा अंतर्राष्ट्रीय शब्दों के संतुलित समन्वय को अपनाना आवश्यक है। वर्तमान डिजिटल एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) के युग में हिन्दी की वैज्ञानिक अभिव्यक्ति को सुदृढ़ बनाने हेतु सरल, सुसंगत और प्रयोगधर्मी शब्दावली का विकास अनिवार्य है। साथ ही, मौलिक वैज्ञानिक लेखन, उच्चस्तरीय पाठ्यसामग्री के निर्माण तथा तकनीकी ज्ञान के लोकाभिमुख प्रसार पर विशेष बल दिया जाना चाहिए, ताकि हिन्दी ज्ञान-विज्ञान की एक सशक्त और जनोन्मुख भाषा के रूप में स्थापित हो सके।

बीज शब्द : तकनीकी शब्दावली, वैज्ञानिक शब्दावली, भाषाविज्ञान, मानकीकरण, प्रयोजनमूलक हिन्दी, विज्ञान-लेखन, पारिभाषिक शब्द, अनुवाद प्रक्रिया, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल युग

प्रस्तावना:

किसी भी भाषा की असली ताकत इस बात से मापी जाती है कि वह अपने समय के विज्ञान और नई जानकारी को कितनी आसानी और सफाई से समझा पाती है। हिन्दी के बारे में अक्सर यह संदेह जताया जाता है कि इसमें विज्ञान की बातें नहीं की जा सकतीं, लेकिन यह सोच गलत है। भाषाविज्ञान कहता है कि कोई भी भाषा रुकी हुई नहीं होती, वह समाज और नई खोजों के साथ खुद को बदलती और बढ़ती रहती है।

हिन्दी ने भी समय के साथ खुद को बदला है। अब यह सिर्फ कहानियों और कविताओं की भाषा नहीं रही, बल्कि विज्ञान और तकनीक की भाषा भी बन गई है। आज सरकारी कामकाज, कानून, व्यापार और पढ़ाई के साथ-साथ डॉक्टरों, इंजीनियरों और परमाणु विज्ञान जैसे मुश्किल विषयों में भी हिन्दी का इस्तेमाल हो रहा है। हिन्दी की यह मजबूती सिर्फ दूसरी भाषाओं के अनुवाद से नहीं आई, बल्कि नए शब्दों को गढ़ने और दूसरी भाषाओं के अच्छे शब्दों को अपना लेने की इसकी खूबी से आई है।

* शोधार्थी, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
neet015bhu@gmail.com, 8601728724

हमारे संविधान और सरकारी संस्थाओं की कोशिशों ने भी हिन्दी को विज्ञान की भाषा बनाने में बड़ी मदद की है। अदालतों, सरकारी दफ्तरों और कॉलेजों में हिन्दी के बढ़ते इस्तेमाल ने यह साबित कर दिया है कि यह भाषा किसी भी मुश्किल विषय को बहुत अच्छे और व्यवस्थित तरीके से समझा सकती है।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली पारिभाषिक शब्दावली के अंतर्गत आता है। हिन्दी शब्दसागर के अनुसार "जिसका अर्थ परिभाषा द्वारा सूचित किया जाय। जिसका व्यवहार किसी विशेष अर्थ के संकेत के रूप में किया जाय। जैसे, पारिभाषिक शब्द।"¹

तकनीकी शब्दावली वह माध्यम है जिसके द्वारा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के जटिल सिद्धांतों को स्पष्ट, सुसंगत और प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया जाता है। हिन्दी में तकनीकी शब्दावली का निर्माण केवल अनुवाद का कार्य नहीं है, बल्कि यह एक सुनियोजित बौद्धिक प्रक्रिया है, जिसमें अर्थ की सटीकता, संप्रेषणीयता और व्यावहारिकता का संतुलन आवश्यक होता है। यदि शब्दावली अत्यधिक क्लिष्ट होगी तो उसका व्यापक प्रयोग बाधित होगा, और यदि वह अत्यधिक सरल किन्तु अस्पष्ट होगी तो वैज्ञानिक अभिप्राय प्रभावित होगा।

इसीलिए हिन्दी की तकनीकी शब्दावली के विकास में एक ऐसी दृष्टि अपेक्षित है, जो परंपरागत भाषिक संसाधनों विशेषतः संस्कृत का समुचित उपयोग करते हुए आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप शब्दों का निर्माण करे। साथ ही, अनुवाद प्रक्रिया को भी संदर्भ-सापेक्ष और व्यवहारमुखी बनाना आवश्यक है, ताकि यह शब्दावली शिक्षा, प्रशासन तथा वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्रों में प्रभावी रूप से प्रयुक्त हो सके। तकनीकी शब्दावली हिन्दी की प्रयोजनमूलकता को सुदृढ़ करने का एक महत्वपूर्ण आधार बनती है। "हिन्दी भाषा के प्रयोग में प्रयोजनीयता का समावेश होता है तो उसे प्रयोजनमूलक हिन्दी की संज्ञा प्राप्त होती है।"²

हिन्दी में विज्ञान-लेखन कोई आरोपित प्रक्रिया नहीं, बल्कि भारतीय ज्ञान-परंपरा का स्वाभाविक विस्तार है। इसकी जड़ें प्राचीन भारत की उस मेधा में निहित हैं, जहाँ भाषा और विज्ञान का घनिष्ठ संबंध रहा है। वैदिक तथा उत्तरवैदिक काल के विद्वानों ने गणित, आयुर्विज्ञान और खगोलशास्त्र जैसे विषयों में समृद्ध एवं सुसंगठित शब्दावली का निर्माण किया, जो आज भी प्रासंगिक है। 'शून्य', 'दशमलव', 'बीजगणित' जैसे शब्द आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन की आधारशिला हैं। उस समय की भाषा केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि व्यावहारिक जीवन से भी जुड़ी हुई थी। इसलिए हिन्दी में विज्ञान-लेखन को नवीन प्रयास न मानकर उसी प्राचीन परंपरा की निरंतरता के रूप में देखना अधिक उपयुक्त है। "भारत में ईसा युग के लगभग दो वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकें मिलती हैं (1) शल्य से संबंधित सुश्रुत संहिता (400-100ई0पू0) (2) उपचार औषधियों की मूल जानकारी से संबंधित चरक संहिता (100ई0)।"³

आधुनिक विकास और संस्थागत प्रयास की दृष्टि से देखें तो 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी में विज्ञान-लेखन ने एक नया मोड़ लिया। इस दौर में पाश्चात्य विज्ञान की अवधारणाओं को हिन्दी में ढालने के गंभीर प्रयास हुए। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय में पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र जैसे विद्वानों ने गणित को हिन्दी के माध्यम से जनसुलभ बनाया। इतिहास यह गवाही देता है कि '23 अगस्त 1873 की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु ने एक टिप्पणी में" पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र द्वारा हिन्दी में 'सरल त्रिकोणमिति' प्रस्तुत करने की सराहना की थी।

"हिन्दी में विज्ञान लेखन की विधिवत शुरुआत होती है उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अर्थात् भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय में। 23 अगस्त 1873 की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु ने एक टिप्पणी में लिखा था "कायस्थ राजकीय पाठशाला के गणित विद्या के मुख्य अध्यापक पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम.ए. ने हिन्दी भाषा में गणित विद्या की पूरी श्रेणी (Mathematical Series) बनाने का संकल्प किया है तथा उक्त महाशय ने सरल त्रिकोणमिति (Plane Trigonometry) हिन्दी भाषा में प्रस्तुत कर ली।"⁴

इस प्रकार हिन्दी में विज्ञान-लेखन की प्रक्रिया अनुवाद तक सीमित न रहकर मौलिक सृजन की दिशा में भी अग्रसर हुई।

परिणामस्वरूप हिन्दी ने वैज्ञानिक विचार-विमर्श को जनसामान्य तक पहुँचाने में एक प्रभावी सेतु का कार्य किया।

"प्राचीन संग्रहों से पता चलता है कि पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र ने इन पुस्तकों के अतिरिक्त स्थितिविद्या, गतिविद्या, वायुमंडल विज्ञान, प्राकृतिक भूगोल पदार्थ विज्ञान आदि अनेक विषयों की पुस्तकें लिखी। यह बात उन्हीं दिनों की है जब महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी 'चलन-कलन' आदि गणित की पुस्तकें लिख चुके थे।"⁵

पण्डित सुधाकर द्विवेदी का योगदान वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली के विकास में आधारभूत है। उन्होंने संस्कृत के धातुज रूप और प्राचीन भारतीय गणितीय परंपरा का उपयोग कर आधुनिक विज्ञान के लिए सटीक हिंदी पारिभाषिक शब्द गढ़े। 'महासिद्धान्त' जैसी कृतियों की टीका के माध्यम से उन्होंने कठिन खगोलीय-गणितीय संकल्पनाओं को हिंदी और लोक-भाषा के निकट लाकर वैज्ञानिक विमर्श को भारतीय धरातल प्रदान किया।

आर्यभट्ट द्वारा दिए गए वृत्त के सूत्र की व्याख्या करते हुए सुधाकर द्विवेदी लिखते हैं -

"समपरिणाहस्यार्थं विष्कम्भार्धहतमेव वृत्तफलम् । तनिजमूलेन हतं घनगोलफलं निरवशेषम् ॥"

इति लघ्वार्यभटीयगणितपादीय सप्तम श्लोकस्थस्या ज्ञानाच्च । एवं भास्करेण निजग्रहगणितस्पष्टाधिकार-६५ श्लोकवासनांभाष्ये 'अत एवार्य भटादिभिः सूक्ष्मत्वार्थं दृक्काणोदयाः पतिताः' इति लेखे 'आदि' शब्देन बहूनां सम्मतिः प्रतिपादिता।"⁶

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल में कुछ संस्थानों तथा निजी व्यक्तियों ने विज्ञान में मौलिक कृतियों का सृजन किया। सृजन का दीप जलाया सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने 1901 में। इस संस्था ने एक ही समय सात विषयों की शब्दावली पर कार्य शुरू किया।⁷

इस परियोजना के तहत ये सात विषय गणित, ज्योतिष (खगोल), भौतिकी, रसायन, भूगोल, अर्थशास्त्र और दर्शन थे जिनका हिंदी शब्दावली तैयार करने का प्रयास किया गया।

इस कार्य की नींव 1898 के आसपास वैज्ञानिक शब्दावली निर्माण का विचार प्रस्तुतीकरण के साथ ही हो गया था और लगभग 1901 से इस कार्य को व्यवस्थित रूप दिया, कार्य शुरू हुआ परिणामस्वरूप वैज्ञानिक शब्दावली ग्रंथ का प्रकाशन होना शुरू हुआ, जिसमें हजारों अंग्रेजी शब्दों के समकक्ष हिंदी शब्द प्रस्तुत किए गए; यह प्रयास हिंदी को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति के योग्य बनाने की दिशा में एक ऐतिहासिक उपलब्धि के रूप में स्थापित हुआ।⁸ इस प्रयास का ही परिणाम था कि हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक बाबू श्याम सुन्दर दास की गणित से संबंधित शब्दावली। 90। में तथा ठाकुर प्रसाद खत्री का भौतिकी विषयक कोश का प्रकाशन 1902 में हुआ। इसी समय फूलदेव सहाय वर्मा, गोरख प्रसाद, महेश चरण सिन्हा, डॉ. सत्य प्रकाश (अब स्वामी सत्य प्रकाश) ने विभिन्न विषयों यथा भूगोल, दर्शन, कृषि कोश, मौसम की कहानी आदि का महत्वपूर्ण प्रकाशन करवाया। 1906 में रसायन तथा भूगोल से संबंधित एक महाकोश का प्रकाशन भी हुआ। इसके पश्चात् 1911 में 'विज्ञान प्रवेशिका भौतिक शास्त्र' का प्रकाशन हुआ। इसी समय विश्व भारती शांति निकेतन, कोलकाता तथा गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (उत्तरांचल) जैसी सुप्रसिद्ध संस्थाएँ भी हिन्दी में विज्ञान लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हो गईं।⁸

इन प्रयासों ने हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य की नींव को इतना मजबूत कर दिया कि आगे चलकर विज्ञान के जटिल विषयों को भी सरल हिंदी शब्दावली में समझना और लिखना संभव हो सका।⁹ कालान्तर में 1913 में इलाहाबाद में 'विज्ञान-परिषद्' की स्थापना हुई और यही से 'विज्ञान-प्रवेशिका' भाग-एक की एक

महत्वपूर्ण पुस्तक 1915 में छपी। तदनन्तर डॉ. सत्यप्रकाश जी ने 1930 के 'विज्ञान' के सितम्बर अंक में 'वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली' प्रकाशित की। उसके बाद 'भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद' ने 1942 में 'अंग्रेजी-हिन्दी वैज्ञानिक कोश' का प्रकाशन दो भागों में कराया। उसके बाद सुप्रसिद्ध कोशकार डॉ. रघुवीर ने अंग्रेजी हिन्दी शब्दावली कोष चार जिल्दों में प्रकाशित किया। आपने रसायन विज्ञान तथा अन्य वैज्ञानिक उपकरणों सहित ढेरों शब्द इसमें सम्मिलित किये हैं।"⁹

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात इन व्यक्तिगत और संस्थागत प्रयासों को सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ, जिससे वैज्ञानिक शब्दावली के मानकीकरण को नई दिशा मिली। इसी का परिणाम रहा कि आज हिंदी विज्ञान की शिक्षा और अनुसंधान के लिए एक सक्षम भाषा के रूप में निरंतर विकास की ओर अग्रसर है।

हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दावली का विकास केवल अनुवाद तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह एक सुचिंतित भाषाई पुनर्जागरण था। डॉ. रघुवीर जैसे विद्वानों ने संस्कृत धातुओं के प्रयोग से पारिभाषिक शब्दों में शुद्धता और सटीकता का समावेश किया, जिससे आधुनिक हिन्दी विज्ञान की एक समर्थ संवाहिका बनी।

"डॉ. रघुवीर पर शब्दों के निर्माण में क्लिष्टता का आरोप अवश्य लगाया जाता है, किन्तु इस कोशकार ने संस्कृत की 520 धातुओं, 20 उपसर्गों एवं 80 प्रत्ययों की सहायता से लाखों तकनीकी एवं वैज्ञानिक शब्द गढ़कर संस्कृत की असीमित शब्द-निर्माण की क्षमता को सिद्ध कर दिया।"¹⁰

इस प्रयास का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी रहा कि वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण में केवल भाषाई शुद्धता ही नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति की क्षमता और वैचारिक स्पष्टता को भी प्राथमिकता दी गई। डॉ. रघुवीर की शब्द-रचना पद्धति ने यह सिद्ध किया कि हिन्दी, विशेषतः संस्कृतनिष्ठ आधार पर, आधुनिक विज्ञान की जटिल अवधारणाओं को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम है। यद्यपि उनके द्वारा निर्मित कुछ शब्द सामान्य प्रयोग की दृष्टि से कठिन प्रतीत होते हैं, फिर भी वे भाषा के दीर्घकालिक विकास की दिशा में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार हिन्दी की वैज्ञानिक शब्दावली का विकास एक संतुलित प्रक्रिया के रूप में उभरता है, जिसमें परंपरा और आधुनिकता का समन्वय दिखाई देता है।"केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति ने सन् 1940 में हुए पाँचवें अधिवेशन में तकनीकी तथा वैज्ञानिक शब्दावली पर विचार-विमर्श करते हुए सिफारिश की थी कि जहाँ तक सम्भव हो अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली को भारतीय (अर्थात् हिन्दी) वैज्ञानिक शब्दावली में सम्मिलित कर लेना चाहिए।"¹¹

इस सिफारिश का मुख्य उद्देश्य भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शिक्षा को वैश्विक स्तर के समकक्ष लाना और नवीन शोधों के आदान-प्रदान को सुगम बनाना था।

"वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के निर्माण के लिए भारत सरकार ने शिक्षा मंत्रालय के अधीन सन् 1950 में 'वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली बोर्ड' की स्थापना की थी। इस बोर्ड के तत्वावधान में तकनीकी शब्दावली के बारे में बहुत ठोस कार्य प्रारम्भ किये गये।"¹²

इस बोर्ड ने विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों की सहायता से शब्दों के पर्याय निर्धारित करने की प्रक्रिया को वैज्ञानिक स्वरूप दिया, जिससे हिंदी में तकनीकी साहित्य के सृजन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

"हिन्दी में विज्ञान एवं तकनीकी विषयों पर काम करने का सिलसिला आगे भी जारी रहा। विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में प्रगति के लिये हिन्दी भाषा में प्रकाशन एवं लेखन हेतु शब्दावली के निर्माण के लिये भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने 1950 में वैज्ञानिक शब्दावली आयोग की स्थापना की। राष्ट्रपति के 2 अप्रैल 1960 की विज्ञप्ति के अनुसार अक्टूबर 1961 में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग का गठन किया गया। इसी समय विशिष्ट भाषाविदों, साहित्यकारों एवं कुशल वैज्ञानिकों के सहयोग से तकनीकी शब्दों की सूची तैयार की गई।"¹³

इस आयोग के समन्वित प्रयासों ने पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता और स्पष्टता सुनिश्चित की, जिससे उच्च शिक्षा के स्तर पर विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के लिए एक ठोस आधारभूत संरचना तैयार हो सकी।

"हिन्दी में तकनीकी एवं वैज्ञानिक लेखन की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए प्रत्येक हिन्दी भाषी प्रान्त में एक हिन्दी ग्रंथ अकादमी की स्थापना की गई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा दिल्ली विश्वविद्यालय जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के दो महत्वपूर्ण संस्थानों में भी हिन्दी में वैज्ञानिक एवं तकनीकी साहित्य से संबंधित ग्रंथ निर्माण की योजना आरंभ की गई। इन संस्थानों ने बहुत श्रम करके विज्ञान के सभी विषयों में स्नातकोत्तर स्तर के लिए आवश्यक पुस्तकों के प्रणयन का कार्य बहुत दक्षता-कुशलता के साथ पूरा किया।"¹⁴

इन अकादमियों और विश्वविद्यालयों के सामूहिक योगदान से वैज्ञानिक विषयों पर स्तरीय पाठ्यपुस्तकों का अभाव दूर हुआ और उच्च शिक्षण संस्थानों में हिंदी माध्यम से शोध एवं अध्ययन की राह सुगम हो गई।

"1963 में केन्द्रीय सरकार द्वारा रुड़की विश्वविद्यालय में एक 'शब्दावली विकास एकक' की स्थापना हुई और लगभग 5 वर्षों में इस एकक ने विभिन्न इन्जिनियरिंग की हिन्दी शब्दावली के विकास का महत्वपूर्ण कार्य संपादित किया। तदन्तर शब्दावली आयोग ने शब्द-सूचियों की समीक्षा करके संबंधित विद्वानों एवं कोशकारों के सहयोग से पुनरीक्षित शब्दावली तैयार की। पहले चरण में ये शब्दावलियाँ विषयवार प्रकाशित की गईं और बाद में इन्हें वृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह के रूप में मुद्रित किया गया।"¹⁵

रुड़की विश्वविद्यालय के इस विशिष्ट योगदान और आयोग की समीक्षात्मक दृष्टि ने इंजीनियरिंग जैसे जटिल तकनीकी विषयों को हिंदी में समाहित कर लिया, जिससे व्यावहारिक और व्यावहारिक विज्ञान की शब्दावली को एक प्रमाणिक और संकलित स्वरूप प्राप्त हुआ।

"वस्तुतः देश के स्वतंत्र होने के बाद से ही यह सवाल खदबदाने लगा कि हिन्दी इस देश के बहुमत की भाषा है, फिर भी हिन्दी में विज्ञान की पुस्तकें नहीं हैं। धीरे-धीरे इस दिशा में सरकारी-गैर सरकारी स्तर पर प्रयास शुरू हुए। इसी क्रम में सुझाव आया कि अंग्रेजी के मानक ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद कर लिया जाय। इस प्रयास को आगे बढ़ाते हुए 1965 में हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों के कुलपतियों का महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में यह तय किया गया कि वैज्ञानिक एवं तकनीकी विषयों में भी हिन्दी माध्यम अपनाने के लिए अपेक्षित पाठ्य-पुस्तकों का यथाशीघ्र निर्माण किया जाय। 1968-69 में केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों को अंग्रेजी पुस्तकों के हिन्दीकरण का आदेश दिया। इतना ही नहीं 1970 में यह भी माँग प्रबल रूप से उठी कि जुलाई 1971 से कृषि, पशु चिकित्सा आदि विषयों में स्नातक स्तर की शिक्षा हिन्दी माध्यम से आरंभ कर दी जाय। इस प्रयास की आगे बढ़ाते हुए 1983 में तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद (C.S.I.R.) ने 'हिन्दी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रकाशन निदेशिका' प्रकाशित की।"¹⁶

इस क्रमबद्ध आंदोलन और दृढ़ संकल्प का ही परिणाम था कि विज्ञान की शिक्षा केवल अंग्रेजी तक सीमित न रहकर जनसामान्य की भाषा हिंदी में भी फलने-फूलने लगी, जिससे देश के युवा वैज्ञानिकों को अपनी मातृभाषा में मौलिक चिंतन और शोध का एक सशक्त मंच प्राप्त हुआ।

"भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद 'खेती' (मासिक पत्रिका) फल-फूल' (त्रैमासिक-पत्रिका) और 'कृषि चयनिका' (त्रैमासिक पत्रिका) प्रकाशित करने के साथ ही गेहूँ से गुलाब तक सभी विषयों में हिन्दी में पुस्तकें छप रही हैं और अब तक 500 पुस्तकें छप चुकी हैं, लेकिन इस सामग्री को तैयार करने में भारत सरकार के वैज्ञानिक शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित शब्दावली का सहारा यदि लिया जाय तो ऐसा अनुवाद तैयार होगा,

जो किसानों के पल्ले नहीं पड़ने वाला। यहाँ तक कि हमारी सभी फसलों, मछलियों, चिड़ियों तथा पेड़-पौधों के नाम भी किसी एक शब्दकोश में सही नहीं मिलते। अंग्रेजी शब्दों के जो हिन्दी अनुवाद किए जा रहे हैं, उनमें मूल आत्मा नहीं उतर पाती। अब भी हमारे यहाँ 'ग्रीन ग्राम' (Green Gram) का अनुवाद 'मूंग' की बजाय 'हरा चना', 'ब्लैक ग्राम' (Black Gram) का अनुवाद 'उड़द' की जगह 'काला चना' तथा रेडग्राम (Red Gram) का अनुवाद 'अरहर' की जगह 'लाल चना' किया जा रहा है।¹⁷

यह विडंबना ही है कि संस्थागत प्रयासों के बावजूद अनुवाद की यांत्रिकता और क्षेत्रीय व्यवहार की उपेक्षा के कारण वैज्ञानिक शब्दावली अक्सर कृत्रिम हो जाती है, जिससे तकनीकी ज्ञान और आम आदमी की लोकभाषा के बीच की दूरी कम होने के बजाय और बढ़ती जा रही है।

"दूसरी ओर इन अनुवादों की हिन्दी शब्दावली बेहद कठिन भी है, यथा-Receiver (अभिग्राहक), Linear resolution (एकधाती पृथकता), Field of View (दर्शन क्षेत्र), Augumental (आवर्धी) Internal (अंतराल) Interpolated (अन्तर्वेशित) Differential gain (अवकलीयलब्धि)"¹⁸

हिन्दी को वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति का सशक्त माध्यम बनाना पूरी तरह संभव है, बशर्ते इसके विकास के लिए एक आधुनिक और सुदृढ़ ढांचा तैयार किया जाए। प्रगति का मार्ग तभी प्रशस्त होगा जब हम बोझिल शब्दों के स्थान पर सरल और व्यावहारिक भाषा को प्राथमिकता देंगे। 'दूरबीन' और 'दूरदर्शन' जैसे सहज शब्दों का प्रयोग जटिल वैज्ञानिक सिद्धांतों को जन-जन तक पहुँचाकर बौद्धिक विकास की गति को बढ़ा सकता है। इस भाषाई उन्नति के लिए उच्च स्तरीय पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन, शोध-पत्रिकाओं का विस्तार और वैज्ञानिकों को मातृभाषा में मौलिक लेखन के लिए प्रोत्साहित करना अनिवार्य है। जब हमारे विश्वविद्यालय और शोध संस्थान मानकीकृत शब्दावली को अपनाएँगे और मीडिया विज्ञान का प्रसार करेगा, तभी तकनीकी क्षेत्र में हिन्दी का वास्तविक और चहुँमुखी विकास सुनिश्चित हो सकेगा।

वर्तमान समय में हिन्दी की वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली के विकास में उल्लेखनीय प्रगति दिखाई देती है। विभिन्न सरकारी संस्थानों, विश्वविद्यालयों और अनुसंधान संगठनों द्वारा हिन्दी में पाठ्यसामग्री, शोध-पत्र तथा तकनीकी शब्दकोशों का निर्माण किया जा रहा है। संगणकीय भाषाविज्ञान और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के क्षेत्र में भी हिन्दी की उपस्थिति धीरे-धीरे सुदृढ़ हो रही है, जिससे डिजिटल माध्यमों पर इसका प्रयोग बढ़ा है। साथ ही, ऑनलाइन शिक्षा, विज्ञान-प्रसार कार्यक्रमों और सामाजिक माध्यमों के माध्यम से हिन्दी में ज्ञान-वितरण का दायरा विस्तृत हुआ है। यद्यपि चुनौतियाँ अभी भी विद्यमान हैं, फिर भी समन्वित प्रयासों के परिणामस्वरूप हिन्दी वैज्ञानिक अभिव्यक्ति की एक सक्षम और उदीयमान भाषा के रूप में स्थापित हो रही है।

वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण केवल एक भाषिक कसरत नहीं, बल्कि एक वैचारिक वि-औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया है। भाषाविज्ञान के कोश-निर्माण संबंधी सिद्धांतों के अनुसार हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के विकास हेतु त्रि-आयामी दृष्टिकोण आवश्यक है। प्रथम, तत्सम आधार—जो डॉ. रघुवीर की पद्धति से संबद्ध है—तकनीकी सूक्ष्मता और शुद्धता सुनिश्चित करता है। द्वितीय, तद्भव और देशज आधार—जो जनजीवन की भाषा है—विज्ञान को लोक-संस्कृति से जोड़ता है। तृतीय, अंतर्राष्ट्रीय आधार—जहाँ कुछ प्रचलित वैश्विक शब्दों को यथावत स्वीकार किया जाता है—भाषा की व्यापकता और संवादशीलता को बढ़ाता है। शब्दावली तभी जीवंत बनती है जब वह प्रयोजनमूलक होने के साथ-साथ प्रसारोन्मुख भी हो।

तकनीकी हिन्दी के सुदृढ़ भविष्य के लिए अब हमें संगणकीय भाषाविज्ञान और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के युग के अनुरूप स्वयं को विकसित करना होगा। यह समय मात्र अनुवाद का नहीं, बल्कि मौलिक सृजन का है। जब तक भारतीय वैज्ञानिक शोध-पत्र और आविष्कार संबंधी दस्तावेज़ हिन्दी में मूल रूप से तैयार नहीं किए जाएंगे, तब तक शब्दावली का विकास सीमित ही रहेगा। उच्च शिक्षा में हिन्दी की सफलता के लिए यह

आवश्यक है कि हम कृत्रिम क्लिष्टता से बचते हुए ऐसी सहज शब्दावली विकसित करें, जो विषय की स्पष्टता को बढ़ाए।

अंततः हिन्दी की सार्थकता तभी सिद्ध होगी जब वह प्रयोगशाला से लेकर खलिहान तक पहुँच सके। विज्ञान और तकनीक की भाषा को ज्ञान की सुलभ भाषा बनना होगा। इसके लिए सरकार, शिक्षाविदों और वैज्ञानिकों के समन्वित प्रयासों से एक ऐसा भाषा-तंत्र विकसित करना होगा, जो मानकीकरण के साथ-साथ परिवर्तनशीलता को भी स्वीकार करे। तभी हिन्दी वैश्विक ज्ञान-विज्ञान की एक सशक्त संवाहिका बन सकेगी।

संदर्भ सूची -

1. श्यामसुंदर दास। हिंदी शब्दसागर (पृ. 2970) उपलब्ध :
https://dsal.uchicago.edu/cgi-bin/app/dasa-hindi_query.py?q=%E0%A4%AA%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B7%E0%A4%BF%E0%A4%95&searchhws=yes&matchtype=exact
2. प्रयोजनमूलक हिंदी, सूर्यप्रसाद दीक्षित 2020 केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा पृ.सं. 10
3. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 733). लोकभारती प्रकाशन.
4. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 734). लोकभारती प्रकाशन.
5. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 734). लोकभारती प्रकाशन.
6. पृष्ठ 20 द्विवेदी, स. (संपा. एवं टीका.). (1995). महासिद्धान्तः (आर्यभट, रचित). चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान. (मूल कार्य 10वीं शताब्दी के आसपास प्रकाशित)
7. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 734). लोकभारती प्रकाशन.
8. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 734). लोकभारती प्रकाशन.
9. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 734). लोकभारती प्रकाशन.
10. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 734). लोकभारती प्रकाशन.
11. झाल्टे, दंगल. (2018). प्रयोजनमूलक हिन्दी : सिद्धान्त और प्रयोग (पृष्ठ 82). वाणी प्रकाशन.
12. झाल्टे, दंगल. (2018). प्रयोजनमूलक हिन्दी : सिद्धान्त और प्रयोग (पृष्ठ 82). वाणी प्रकाशन.
13. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 735). लोकभारती प्रकाशन.
14. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 735). लोकभारती प्रकाशन.
15. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 735). लोकभारती प्रकाशन.
16. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 735). लोकभारती प्रकाशन.
17. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 737). लोकभारती प्रकाशन.
18. पाण्डेय, कैलाश नाथ. (2012). भाषा-विज्ञान का रसायन (पृष्ठ 737). लोकभारती प्रकाशन.



आधुनिक युग में संगीत : दशा तथा दिशाएं

डॉ. रोली कनौजिया*

सारांश:-

भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा हिन्दुस्तानी संगीत प्राचीन काल से ही धर्म तथा आध्यात्म से जुड़ा है। समय के साथ इसने अनेक उतार चढ़ाव देखे। विविध युगों में इसने परिवर्तन का आत्मसात करते हुये विकास की लम्बी यात्रा तय की तथा यह आज वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ है। प्रारम्भ से ही यह गुरु मुख प्रधान रहा है। गुरु के सम्मुख बैठ कर संगीत की बारीकियों को शिष्यों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। एक समय ऐसा था जब संगीत के गुरु अपने ज्ञान को अत्यधिक छिपा कर रखते थे। वे किसी बाहरी व्यक्ति को इसकी शिक्षा नहीं देना चाहते थे। यदि किसी को संगीत सीखना हो तो वर्षों गुरु के घर रहकर उसकी सेवा करनी पड़ती थी। किन्तु आधुनिक युग में विष्णुद्वय द्वारा भारतीय संगीत का पुनरुत्थान किया गया तथा संगीत के मार्ग सर्वसाधारण के लिये खुल गये। संगीत को एक विषय के रूप में शिक्षण संस्थाओं में मान्यता मिली। अनेक सरकारी, गैर सरकारी संस्थाओं में संगीत शिक्षण का कार्य होने लगा। सरकार ने भी संगीत के प्रचार-प्रसार हेतु अनेक कदम उठाये। विविध संगठन स्थापित किये। दूसरी ओर वैज्ञानिक उपकरणों तथा तकनीक ने संगीत की दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिये। अब संगीत सीखना आसान हो गया। बीच में जो समाज संगीत को हेय दृष्टि से देखता था अब संगीत का सम्मान होने लगा। लोक संगीत, फिल्म संगीत, संगीत पत्रकारिता, आडियो-वीडियो का प्रयोग संगीत में इंटरनेट कम्प्यूटर इत्यादि के प्रयोग से संगीत का विकास तथा प्रचार-प्रसार होने लगा। संगीत की स्थिति विदेशों तक पहुंची तथा संगीत के क्षेत्र में दूरस्थ शिक्षा भी अब सम्भव होने लगी है आज संगीत का चहुंमुखी विकास हो रहा है। आज संगीत केवल आध्यात्म से ही नहीं, मनोरंजन से ही नहीं जुड़ा वरन लोगों के जीविकोपार्जन का साधन भी बन चुका है।

मुख्य शब्द — संगीत, पं० विष्णु नारायण भातखण्डे, दूरस्थ शिक्षा, रोजगार।

भारतीय संगीत ललित कलाओं में से एक माना जाता है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। जिस प्रकार अन्य ललित कलाओं ने विकास की यात्रा तय की तथा वे धीरे-धीरे विकसित हुई उसी प्रकार संगीत का भी विकास हुआ। समय के साथ उसने अनेक उतार चढ़ाव देखे। जहाँ यह प्राचीन समय में वेदों से सम्बद्ध रहा धर्म तथा आध्यात्मिकता से जुड़ा था, रामायण काल और महाभारत काल में इसमें सात्विकता व शुद्धता थी, वहीं मुगल काल में इस पर फारसी संगीत का प्रभाव पड़ा तथा इसमें विलासिता का समावेश हुआ किन्तु इस काल में कला के प्रति प्रेम में अधिकता आई। मराठा काल में संगीत में कठोर संगीत साधना व शक्ति दिखी। तथा स्वतन्त्रता के बाद नवीन संघर्ष और चेतना का प्रभाव संगीत पर पड़ा। यद्यपि इस कला ने स्वयं को समय के साथ बदला तथापि इसने अपनी आत्मा एवं जड़ों को कभी नहीं छोड़ा संगीत की पहचान इसके सनातन स्वरूप में रही इसने सदैव अपनी मूल पहचान को सुरक्षित रखा।

“संगीत चाहे भारतीय हो अथवा पाश्चात्य, प्राचीन काल से ही जनजीवन के साथ सम्बद्ध रहा है, भारतीय संगीत की विशेषता उसके सनातन स्वरूप में है जो आज भी अपनी मूल अभिव्यंजना को अक्षुण्ण रखे हुये है। भारतीय संगीत विश्व की उन प्राचीनतम प्रणालियों में से है, जिसका प्रसार भारत से सुदूर प्रदेशों में प्राचीन काल से होता आ रहा है।”¹

भारतीय संगीत प्रारम्भ से ही गुरु मुख प्रधान रहा है जिसमें विद्यार्थी गुरु के सम्मुख बैठ कर संगीत की शिक्षा प्राप्त करता है। क्योंकि भारतीय संगीत श्रुतियों पर आधारित है अतः संगीत की शिक्षा मुखाभिमुख लेना उचित भी है क्योंकि स्वर, लय, ताल की बारीकियाँ गुरु के समक्ष रह कर ही सीखी जा सकती है। प्राचीन काल में गुरुकुल पद्धति तथा मध्यकाल में घराना पद्धति प्रकाश में आई।

“घरानों ने वास्तव में संगीत कला को अवश्य समृद्ध किया है, और उसी के फलस्वरूप संगीत की महानतम् निधि आज हमारे पास है। सस्ते मनोरंजन के अधिकार भरे उस युग में, इन्हीं घरानेदार संगीतज्ञों ने अपनी कठोर साधना, असीम गुरुभक्ति और तालीम से संगीत को जीवित रखा, यदि घराने न बने होते तो

* ऐसोसिएट प्रोफेसर, संगीत (गायन) विभाग, आचार्य नरेन्द्र देव नगर निगम महिला महाविद्यालय, हर्षनगर, कानपुर।

संगीत की परम्परागत विद्या अवश्य ही मध्य युग और अंग्रेजों के युग में नष्ट हो गई होती। घरानों ने ही हमारी सांगीतिक संस्कृति की रक्षा की है और कला के रक्षक का उत्तरदायित्व निभाया है।²

धीरे-धीरे समय परिवर्तित हुआ तथा आधुनिक युग में संगीत के क्षेत्र में तकनीकी विकास के साथ अनेक परिवर्तन सामने आये। ब्रिटिश काल में संगीत की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। उस समय समाज में संगीत को हीन (घृणित) दृष्टि से देखा जाने लगा। इसके कई मुख्य कारण थे:-

संगीतकारों का समाज में पूर्व की भाँति सम्मान नहीं रह गया था। संभ्रान्त घर के लोग अपने बच्चों को संगीत सिखाना सही नहीं समझते थे। उस समय जो भी गुणी उस्ताद थे वे संगीत कला में तो निपुण थे किन्तु वे अपनी कला को छिपा कर रखते थे बाहरी लोग तथा आम जनता को सिखाने के पक्ष में नहीं थे। इसके अतिरिक्त वे किताबी शिक्षा से भी दूर थे, जिसमें संगीत का शास्त्र (Theory) पक्ष पिछड़ता जा रहा था।

ऐसी गम्भीर तथा सोचनीय स्थिति में पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे तथा पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी ने भारतीय संगीत को पुनर्जीवित करने का बीड़ा उठाया।

10 अगस्त 1860, में जन्मे पं० विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने संगीत संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। “1909-1910 से भातखण्डे जी के ग्रन्थों का सृजनकाल आरम्भ होता है। उन्होंने सर्वप्रथम ग्रन्थ ‘श्रीमल्लक्ष्य संगीतम्’ नामक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा और चतुर उपनाम से प्रकाशित कराया, तत्पश्चात 1910 ई० में ‘हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति’ नामक ग्रन्थ अपने निजि नाम ‘विष्णु शर्मा’ के नाम से प्रकाशित कराया।³

पं० भातखण्डे जी ने संगीत को शास्त्र (Academic) रूप दिया जिससे इसे विद्यालय तथा महाविद्यालयों में पढ़ाया जा सके। उन्होंने थाट पद्धति को व्यवस्थित किया जो आज भी हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का आधार है। उन्होंने स्वर लिपि पद्धति बनाई जिससे संगीत सीखा जा सके तथा सहेज, कर रखा जा सके। जिससे बंदिशों को किताबों में लिखना संभव हो सका। उन्होंने 1918 में ग्वालियर में **माधव संगीत महाविद्यालय** तथा 1925-26 में लखनऊ में **मैरिस कॉलेज ऑफ़ म्यूज़िक** (भातखण्डे संस्कृति विश्वविद्यालय) की स्थापना की। उन्होंने संगीत के विविध सम्मेलन कराये तथा अनेक महान कलाकार उनके शिष्य हुये।

इसी प्रकार पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर संगीत के महान पुनरुद्धारक तथा गायक थे। उन्होंने संगीत को दरबारी संरक्षण से निकालकर आम जनता तक पहुंचाया और इसे सम्मानजनक स्थान दिलाया। उन्होंने भी भातखण्डे जी की तरह संगीत के विविध ग्रंथों तथा पुस्तकों का सृजन किया। 5 मई 1901 में लाहौर में **गांधर्व महाविद्यालय** की स्थापना की 1908 में **बम्बई गांधर्व महाविद्यालय** की स्थापना की। स्वरलिपि पद्धति बनाई तथा उनके अनेक महान शिष्य थे जिन्होंने संगीत का प्रचार प्रसार किया तथा उनका नाम रौशन किया। उनके शिष्यों में पं० विनायक राव पटवर्धन, नारायण राव व्यास, पं० ओंकार नाथ ठाकुर इत्यादि प्रमुख थे। पं० ओंकार नाथ ठाकुर ने पलुस्कर जी के विषय में एक लेख में लिखा है कि:-

“पाँच-पाँच सप्तकों तक उनकी आवाज थी। मंद्र में जब वे गमक की ताने लेते थे तब श्रोताओं को धरती काँपती सी लगती थी या नीचे की दरी खिंचती हुई सी लगती थी या फिर ऐसा महसूस होता था, जैसे कोई डाकगाड़ी स्टेशन पर से गुजर रही है। उनकी आवाज के प्रचंड आंदोलनों से 30 कैंडल पावर के बल्ब बुझ जाते थे।⁴

पं० पलुस्कर जी ने प्रिंटिंग प्रेस खोलकर अनेक प्रकाशन छपवाये ।

पं० भातखण्डे तथा पलुस्कर जी के प्रयासों से संगीत सभ्य समाज का अंग बन गया। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में सबसे पहले संगीत विषय बी०ए० में आया तदोपरांत इलाहाबाद विश्वविद्यालय में इसे स्नातक स्तर पर पढ़ाया जाने लगा फिर समय के साथ एम०ए०, पी०एचडी डिग्री दी जाने लगी। कुछ विश्वविद्यालयों में मात्र संगीत की ही शिक्षा दी जाती है जैसे भातखण्डे संस्कृति विश्व विद्यालय इत्यादि।

ब्रिटिश काल में जब संस्थागत शिक्षा की शुरुआत हुई तो इसी से प्रेरणा प्राप्त कर इन दोनों विद्वानों ने भारतीय संगीत के रक्षार्थ तथा प्रचार-प्रसार हेतु संगीत संस्थानों की योजना बनाई। इसका प्रमुख लाभ यह हुआ कि संगीत सीखना आम लोगों के लिए सुलभ हो गया। स्वतन्त्रता से पूर्व ही घराना पद्धति के साथ-साथ यह संस्थागत प्रणाली प्रारम्भ हो गई थी। उच्चतर शिक्षा आयोग (1952-53) इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में संगीत और अन्य ललित कलाओं को पाठ्यक्रम में महत्व देने की बात कही। तदोपरान्त देश के विभिन्न राज्यों में हाई स्कूल, इंटरमीडिएट और माध्यमिक स्तर पर संगीत को विषय के रूप में सम्मिलित किया गया। विविध विश्व विद्यालयों के अतिरिक्त इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, विश्व भारती शान्ति

निकेतन, संगीत रिसर्च अकादमी (ITC) कोलकाता, प्रयाग संगीत समिति इत्यादि द्वारा संगीत का प्रशिक्षण कार्य व्यापक स्तर से कराया जाने लगा।

इन शिक्षण संस्थाओं के अतिरिक्त सरकार के प्रयासों से कुछ ऐसी संस्थायें तथा संगठन स्थापित किये गये जिनका उद्देश्य संगीत के प्रचार प्रसार हेतु विविध कार्यक्रम आयोजित करना रहा है जिससे देश विदेश में सांस्कृतिक आदान प्रदान हो तथा कलाकारों को प्रोत्साहित किया जा सके। इस कड़ी में संगीत नाटक अकादमी स्पिन मैके, ऑल इण्डिया म्यूजिक कांग्रेस, संकल्प इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं।

उदाहरणस्वरूप संगीत नाटक अकादमी न केवल संगीत प्रतियोगिता आयोजित कर प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों को प्रोत्साहित करती है वरन् संगीत सम्मेलनों का आयोजन, संगीत शोधार्थियों को छात्रवृत्ति देना, कलाकारों को फेलोशिप अवार्ड देना, कलाकारों को वित्तीय सहायता देना, वाद्यों का संग्रह, लोकसंगीत, लोकनृत्य इत्यादि का ध्वनिमुद्रण, कलाकार को सम्मान तथा आर्थिक सहायता, संगीत सम्बन्धी श्रेष्ठ रचनाओं को पुरस्कृत करना, प्रतिवर्ष संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार प्रदान करने जैसे विविध कार्य करती है।

डॉ० कपिला वात्स्यायन के अनुसार –

"The fellowships and the awards are a small token of the nation's gratitude to those who are the living Community of a great past and the transmitters of the tradition for a hopeful future."⁵⁵

इसी क्रम में कई अनेक संस्थाएँ आज अपने स्तर से संगीत कला के प्रचार-प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं।

आज के युग में संगीत के क्षेत्र में विविध शोध हो रहे हैं। संगीत के विविध विषयों पर चाहे वह संगीत का ऐतिहासिक विकास हो, उसका व्यावहारिक रूप हो, संगीत का समाज पर प्रभाव हो, संगीत के वैज्ञानिक आधार हो या सांगीतिक सिद्धान्त सभी पर शोध-कार्य सम्पन्न कराये जा रहे हैं।

जॉन बेस्ट के अनुसार –

"हमारे सांस्कृतिक विकास का गुप्त रहस्य अनुसंधान में निहित है। अनुसंधान नये सत्यों की खोज द्वारा अज्ञानता के क्षेत्रों को समाप्त कर देता है और वे सत्य हमें कार्य करने की श्रेष्ठतर विधियाँ तथा उत्तमतर परिणाम प्रदान करते हैं।"⁵⁶

आज संगीत के क्षेत्र में जो भी शोध कार्य हो रहा है वह हमारी प्राचीन परम्परा का संरक्षण कर रहा है। इससे विकास तथा नवाचार के नये-नये मार्ग खुल रहे हैं। आज हिन्दुस्तानी संगीत व्यापक होता जा रहा है तथा विश्व स्तर पर प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है। संगीत आज केवल मनोरंजन का साधन नहीं है वरन् यह एक प्रभावशाली उपचार पद्धति भी है। इसमें संगीत के विभिन्न तत्वों (जैसे-स्वर, लय, ताल और कंपन) का उपयोग करके रोगी के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को सुधारा जाता है। इसे ही आज संगीत चिकित्सा कहा जाता है यह मानसिक तनाव, अवसाद तथा अनिद्रा जैसी बीमारियों को दूर करने में सहायक है। तथा उच्च रक्तचाप को नियंत्रित करने में मदद करता है। इससे मन को आध्यात्मिक शांति तथा एकाग्रता मिलती है। आज हम यह कह सकते हैं कि –

अन्वेषकों ने यह ज्ञात किया है कि "एलजीमर (Alzheimer) के रोगियों को संगीत सुनकर पूर्व बातें स्मृत हो आती हैं, और पार्किंसन (Parkinson) के रोगियों का 'मोटर कोऑर्डिनेशन' (Motor Coordinating) सुधर जाता है मस्तिष्क की चोट खाए व्यक्तियों के पुनर्वास में भी संगीत – चिकित्सा के सुखद परिणाम सामने आये हैं। ग्रेटफुल डेड (Greatful Dead), मिकी हार्ट (Mickey Hant) और ऑलीवर सेक्स (Oliver Sacks) जैसे न्यूरोलोजिस्ट (Neurologist) भी यह स्वीकार कर चुके हैं कि संगीत के द्वारा मस्तिष्क की चोट के रोगियों के उपचार में सहायता मिलती है। उनके अनुसार, जो व्यक्ति भाषा नहीं समझते वे संगीत पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं और जो रोगी एक अक्षर नहीं बोल सकते थे वे गा लेते हैं।"⁵⁷ हम यह कह सकते हैं कि आज संगीत चिकित्सा वह प्रक्रिया है जिसमें Trained चिकित्सक या संगीत विशेषज्ञ रोगी की स्थिति के अनुसार संगीत का चयन करके उसे सुनाते या गवाते हैं जिससे रोगी की मानसिक व शारीरिक स्थिति में सुधार होता है। आज विविध रागों में लगने वाले स्वर समूहों के आधार पर मानव की मनः स्थिति पर पड़ने वाले प्रभावों पर शोध हो रहा है। आज संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में अपार सम्भावनाएं निहित हैं।

परम्परागत रूप से शास्त्रीय संगीत का ज्ञान गुरु शिष्य परम्परा के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी प्रसारित होता रहा है। किन्तु आधुनिक युग में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास ने ज्ञान के प्रसार के नये साधन प्रदान किये हैं। विशेष रूप से विविध वैज्ञानिक उपकरणों जैसे- इलैक्ट्रॉनिक संयन्त्र, कैसेट्स,

रिकार्ड्स, कम्प्यूटर, इन्टरनेट ने संगीत के अध्ययन, शोध, शिक्षण तथा प्रचार प्रसार के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किये हैं।

“आज के वैज्ञानिक युग में इलेक्ट्रानिक्स टैक्नोलॉजी के नित्य नवीन से नवीन एवं अत्याधुनिक इलेक्ट्रानिक ध्वन्यंकन उपकरणों ने संगीत की अपार सहायता की है। आज हम इन्हीं उपकरणों की सहायता से अपने संगीत को संग्रहीत भी कर सकते हैं और पुनः जब चाहे सुन भी सकते हैं। यहाँ तक कि विभिन्न विश्वविद्यालयों एवम् संगीत महाविद्यालयों में इलेक्ट्रानिक्स ऑडियो/विजुअल पद्धति की सहायता से संगीत की उच्चतम शिक्षा का कार्य भी किया जा रहा है। यदि यह पद्धति प्राचीन काल में होती तो तानसेन, बैजूबावरा, स्वामी हरिदास आदि महान सन्त संगीतकारों का गायन भी आज इन्हीं ध्वनिसंग्रह इलेक्ट्रानिक्स संयंत्रों द्वारा पुनः सुनना सम्भव हो जाता। अब तो इलेक्ट्रानिक तकनीक के माध्यम से तानपुरा व तबला जैसे वाद्यों की सजीव आवाज भी उपलब्ध हो गई है।”⁸

आधुनिक युग में इन वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से दूरस्थ संगीत शिक्षा भी सम्भव हो सकी है। यद्यपि संगीत एक गुरु मुख प्रधान कला है तथापि काफी हद तक इन उपकरणों के माध्यम से सुदूरवर्ती इलाकों के लोग भी संगीत की शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं तथा संगीत की बारीकियों को समझ सकते हैं। पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, रेडियो, ध्वनि मुद्रिकाओं के माध्यम से छात्रों से एकतरफा सम्पर्क ही हो पाता है छात्र सही सीख रहा है अथवा नहीं इसकी जाँच नहीं हो पाती किन्तु ऑडियो-वीडियो कैसेट्स के आविष्कार ने इस कमी को काफी सीमा तक दूर कर दिया है। पं० विद्याधर व्यास का मानना है कि “दूरस्थ संगीत शिक्षा कार्य का क्षेत्र असीमित है। मानो पूरी दुनिया ही एक कक्षा है और इसके विद्यार्थी अलग-अलग उद्देश्यों को लेकर उपस्थित हुये हैं। यह एक बहुत बड़ा आह्वान है और इसे स्वीकार करते हुये संगीत शिक्षा कार्य विकसित करने के लिये एक नहीं, दो नहीं अनेकानेक प्रशिक्षित अध्यापकों का दल चाहिये। फिर ऐसे दलों के शिक्षा कार्य में सुसूचना लाने के लिये दूरस्थ संगीत शिक्षा के स्पष्ट दिशानिर्देश, परिचालन के सूत्र तथा रीतियाँ विकसित की जानी आवश्यक है।”⁹

आधुनिक युग में चित्रपट संगीत के बढ़ते प्रभाव से हम नहीं बच सकते हैं लेकिन उसकी आधार शिला भी शास्त्रीय संगीत है। पहले के कलाकार अभिनय के साथ पार्श्व गायन भी करते थे किन्तु बाद में तकनीकी विकास के बाद दौर बदल गया। यह आवश्यक नहीं जो अच्छा अभिनय करता हो वह अच्छा गायन भी करता हो। अब समय के साथ पार्श्व गायन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। पूर्व में भी चित्रपट संगीत होता था उन पर रागों का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता था इसीलिये वे गीत सदाबहार गीत होते थे। यद्यपि अब संगीत पूर्व की भाँति पूरी तरह से मेलोडी आधारित नहीं होते बल्कि अब हार्मनी का अत्याधिक प्रयोग होने लगा है। अधिक वाद्यों के प्रयोग से कोलाहल का सा माहौल सृजित होता है तथापि आज भी कुछ संगीत निर्देशक जो रागों को आधार मान कर संगीत निर्देशित करते हैं वे गाने ‘**मील का पत्थर**’ सिद्ध होते हैं। पूर्व में भी कई शास्त्रीय संगीतज्ञ स्वयं चित्रपट संगीत से जुड़े थे। यद्यपि आज के माहौल में कई शास्त्रीय संगीतज्ञ चित्रपट संगीत के पक्ष में नहीं रहते तथापि कई ऐसे शास्त्रीय संगीतज्ञ भी हैं जिनका चित्रपट संगीत के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण है जैसा कि पं० भीमसेन जोशी के बारे में कहा जा सकता है कि, “पं० भीमसेन जोशी अनुभव करते हैं कि पश्चिमी संगीत या फिल्म संगीत, किसी का भी हमारे शास्त्रीय संगीत पर कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ा है। इसके विपरीत उन्होंने फिल्म-संगीत की इस दृष्टि से प्रशंसा की कि इसने लोगों को स्वर और लय का आनन्द उठाने के लिये प्रोत्साहित किया है।”¹⁰

आधुनिक युग में संगीत का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। जहाँ पूर्व के समय में संगीत पर कुछ चुनिंदा लोगों का ही एकाधिकार था तथा वे किसी बाहरी व्यक्ति को संगीत सिखाना भी पसन्द नहीं करते थे। तथापि संगीत जब विकास के विभिन्न चरणों से गुजरा तो उसमें समय के साथ परिवर्तन आता गया और प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक देश तथा समाज में बहुत अधिक परिवर्तन आया लोगों की जीवन शैली परिवर्तित हुयी। जिस संगीत के लिये यह समझा जाता था कि यह विशिष्ट वर्ग हेतु ही है तथा जनता की पहुँच से दूर था और संगीत का अर्थ मात्र कलाकार बनना था, समय के साथ अब इसमें अनेक सम्भावनाएँ दृष्टिगत होने लगी हैं अब लोग न ही संगीत के शिक्षक बनते हैं वरन् अनेक क्षेत्रों में संगीत को लोग रोजगार तथा व्यवसाय का साधन भी बना चुके हैं। आज समाज में संगीत को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है तथा सरकार भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप संगीत कला के प्रचार-प्रसार में अपना सहयोग दे रही है। कलाकारों तथा युवा छात्र/छात्राओं को सांगीतिक मंच प्राप्त हो रहे हैं। चाहे वह लोकसंगीत हो, चित्रपट संगीत हो, शास्त्रीय संगीत हो, फ्यूजन म्यूजिक हो, लोगों में रचनात्मकता आई है।

संगीत के प्रति लोगों की जागरूकता बढ़ी है विविध संगीत ग्रंथकार, प्रकाशक तथा संगीत समीक्षक एवं सम्पादक भी अपने-अपने क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रहे हैं संगीत का क्षेत्र निसन्देह वृहद हुआ है तथा वह नित नवीन ऊँचाईयाँ छू रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. शर्मा, डॉ० स्वतन्त्र (1995), भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, प्रकाशक – टी०एन० भार्गव एण्ड सन्स, इलाहाबाद, पृ०-1.
2. शर्मा, डॉ० स्वतन्त्र (1995), भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, प्रकाशक-टी० एन० भार्गव एण्ड सन्स, इलाहाबाद पृ०-199
3. दत्ता, डॉ० पूनम (2005), भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य, राज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, पृ०-59, 60.
4. संगीत- पत्रिका, अगस्त 1986, लेख-विष्णु दिगम्बर पलुष्कर, पृ०- 16.
5. Sangeet Natak Journal of the sangeet Natak Academy-59, January-March 1981, P-07.
6. शर्मा डॉ० मनोरमा, (1990), संगीत एवं शोध प्रविधि, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृ०-23.
7. वाणर्णय, एस०सी० (हिन्दी भावानुवाद), लेख – संगीत-चिकित्सा, 'संगीत'-पत्रिका, अगस्त 2008, पृ०-8, 9
8. रावत, प्रदीप कुमार, लेख – संगीत के वैज्ञानिक उपकरण, 'संगीत'-पत्रिका, जनवरी, फरवरी 2001, पृ०-106.
9. व्यास, डॉ० विद्याधर, लेख – शास्त्रीय संगीत में दूरस्थ शिक्षा की संभावनाएं, 'संगीत' – पत्रिका, जनवरी-फरवरी 2001, सहस्राब्दी अंक, पृ०-129.
10. व्यास, मदनलाल (अनुवादक), (1991), नाडकर्णी, मोहन (लेखक), भीमसेन जोशी, व्यक्ति और संगीत, म०प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, पृ० 67

